गोरा

अध्याय 19

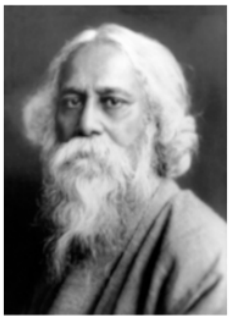

रविंद्रनाथ टैगोर

गोरा

अध्याय 19

https://www.hindiadda.com/gora-part-xix/

गोरा आजकल अलस्सुबह ही घर से निकल जाता है, विनय यह जानता था। इसीलिए सोमवार को सबेरे वह भोर होने से पहले ही गोरा के घर जा पहुँचा और सीधे ऊपर की मंजिल में उसके सोने के कमरे में चला गया। वहाँ गोरा को न पाकर उसने नौकर से पूछा तो पता चला कि गोरा पूजा-घर में है। इससे मन-ही-मन उसे कुछ आश्चर्य हुआ। पूजा-घर की देहरी पर पहुँचकर विनय ने देखा, गोरा पूजा की मुद्रा में बैठा है। रेशमी धोती, कंधे पर रेशमी चादर, किंतु फिर भी उसकी विशाल देह का अधिकांश भाग खुला ही था। गोरा को यों पूजा करते देखकर विनय को और भी विस्मय हुआ।

जूते की आवाज़ सुकर गोरा ने पीछे फिरकर देखा। विनय को देखकर वह उठ खड़ा हुआ और घबराया-सा बोला, "इस कमरे में न आना।"

विनय ने कहा, "डरो मत, मैं नहीं आता। तुमसे मिलने आया था।"

बाहर आकर गोरा ने कपड़े बदले और फिर विनय को साथ लेकर तिमंज़िले वाले कमरे में चला गया।

विनय ने कहा, "आज सोमवार है।"

गोरा ने कहा, "ज़रूर सोमवार है, पंचांग में भूल हो सकती है, पर आज के बारे में तुमसे भूल नहीं हो सकती। कम-से-कम इतना तो निश्चित है कि आज मंगलवार नहीं है।"

विनय ने कहा, "तुम आओगे तो नहीं, यह जानता हूँ- लेकिन आज तुम्हें एक बार बुलाए बिना मैं इस काम में प्रवृत्त नहीं हो सकता। इसीलिए आज सबेरे उठते ही सीधा तुम्हारे पास आया हूँ।"

कुछ कहे बिना गोरा निश्चल बैठा रहा। विनय ने फिर कहा, "तो तुम्हारा यही निश्चय है कि मेरे विवाह में नहीं आओगे?"

गोरा ने कहा, "नहीं विनय, मैं नहीं जा सकूँगा।"

विनय चुप हो गया। गोरा ने अपने मन की वेदना को छिपाकर हँसते हुए कहा, "मैं नहीं भी गया तो क्या हुआ! जीत तो तुम्हारी ही हुई। माँ को तो तुम खींच ही ले गए। मैंने तो बहुत कोशिश की, पर उन्हें किसी तरह रोक न सका। अंत में अपनी माँ के बारे में भी मुझे तुमसे हार माननी पड़ी। विनय, यहाँ भी क्या एक-एक करके 'सब लाल हो जाएगा'। अपने नक्शे में क्या मैं अकेला ही बचा रह जाऊँगा।"

विनय ने कहा, "भाई, मुझे दोष न दो! मैंने उन्हें बहुत ज़ोर देकर ही कहा था- 'माँ, मेरे ब्याह में तुम किसी तरह नहीं जा सकतीं।' माँ बोलीं, 'देख वीनू, जिन्हें तेरे ब्याह में नहीं आना वे तो तेरा न्यौता पाकर भी नहीं आएँगे- इसीलिए तुमसे कहती हूँ, तू किसी को न्यौता भी मत दे और मना भी मत कर, चुप हो रह।' गोरा, तुम किसी को न्यौता भी मत दे और मना भी मत कर, चुप हो रह।' गोरा, तुम मुझसे कहाँ हारे हो, तुम अपनी माँ से हारे हो, हज़ार बार हारे हो। ऐसी माँ और कहाँ मिलेगी?"

आनंदमई को रोकने की गोरा ने पूरी कोशिश की ज़रूर थी, लेकिन वह जब उसकी बात न मानकर, उसके क्रोध और कष्ट की परवाह न करके विनय के विवाह में चली ही गईं तब गोरा को इससे दु:ख नहीं हुआ, बल्कि कुछ प्रसन्नता ही हुई। उसकी माँ के असीम स्नेह का जो अंश विनय को मिला है, गोरा से विनय का विच्छेद हो जाने पर भी उस गंभीर स्नेह-सुधा से विनय को कोई वंचित न कर सकेगा, यह जानकर मन-ही-मन गोरा को तृप्त और शांति मिली। और सब ओर से वह विनय से बड़ी दूर चला जा सकता है, किंतु अक्षय मातृ स्नेह का यह बंधन इन दोनों पुराने बंधुओं को सदैव निविड़ भाव से एक-दूसरे से बाँधे रहेगा।

विनय ने कहा, "अच्छा भाई, तो मैं चलूँ, आना बिल्कुल असंभव हो तो न आना, लेकिन मन में गुस्सा न रखना, गोरा! मेरे जीवन को इस मिलन से कितनी बड़ी सार्थकता मिली है, अगर यह तुम अनुभव कर सको तो हमारे इस विवाह को कभी अपने सौहार्द के घेरे से निर्वासित न कर सकोगे, यह मैं दावे से कह सकता हूँ।"

यह कहकर विनय उठ खड़ा हुआ। गोरा ने कहा, "बैठो विनय, लग्न तो रात को कहीं जाकर है, अभी से इतनी जल्दी क्यों?"

गोरा के इस अप्रत्याशित स्नेह-पूर्ण अनुरोध से द्रवित होकर विनय फिर बैठ गया।

तब बहुत दिनों के बाद ये दोनों फिर पहले की तरह सबेरे-सबेरे घुट-घुटकर बातें करने लगे। विनय के हृदय की वीणा का जो तार आजकल पंचम पर था, उसी को गोरा ने छू दिया। जैसे फिर तो विनय की बात पूरी होने में ही न आती थी। ऐसी कितनी ही छोटी-छोटी घटनाओं का इतिहास, जो लिखी जाने पर अत्यंत साधारण बल्कि हास्यास्पद जान पड़तीं, यों सुनाने लगा जैसे गाने की तान की तरह प्रत्येक आवृत्ति पर उसमें नया माधुर्य भर उठता हो। विनय के मन में जो आश्चर्य-लीला हो रही थी, अति निपुण भाषा से वह उसके रस-वैचित्रय का सूक्ष्म, किंतु गंभीर वर्णन करने लगा। कैसा अपूर्व था जीवन का यह अनुभव! जिस अनिर्वचनीय चीज़ को विनय ने जी भरकर पाया है, वह क्या सभी पा सकते हैं- उसे ग्रहण करने की शक्ति क्या सबमें होती है? विनय कह रहा था, दुनिया में आमतौर पर स्त्री-पुरुष का जैसा मिलन देखा जाता है, उसमें इस तार-स्वर की गूँज तो नहीं सुनाई देती! गोरा उन दोनों की तुलना अन्य लोगों से न करे, यह विनय का अनुरोध था। उसे लग रहा था कि बिल्कुल ऐसी घटना और कभी नहीं घटी होगी- सभी से ऐसा घटित हो सकता होता तो सारा समाज ही प्राणों की हिलोर से चंचल हो उठता, जैसे वसंत के एक झोंके से ही सारी वन-भूमि फूल-पल्लवों से पुलकित हो उठती है। वैसा होने पर लोग ऐसी सरलता से यों खाने-सोने में ही जीवन न बिता देते! जिसमें जितना सौंदर्य, जितनी शक्ति होती,

स्वभावतया अनेक रंग-रूप धरकर दिशा-दिशा में खिल उठती। यह तो जादू की छड़ी है-इसके स्पर्श की उपेक्षा करके कौन बेजान पड़ा रह सकता है?

यह तो साधारण व्यक्ति को भी असाधारण बना देती है। उस प्रबल असाधारण का स्वाद जीवन में एक बार भी मिल जाए तो जीवन का सच्चा परिचय मिल जाता है।

विनय बोला, "गोरा, मैं तुम्हें विश्वासपूर्वक कहता हूँ, मनुष्य की संपूर्ण प्रकृति को क्षण-भर में जगा देने का साधन यह प्रेम ही है चाहे जिस कारण हो, इस प्रेम का आविर्भाव हम लोगों में दुर्बल होता है और इसीलिए हम सभी अपनी पूरी उपलब्धि से वंचित हो जाते हैं। हममें क्या है, यह हम नहीं जानते। जो भीतर छिपा हुआ है उसे प्रकाश में नहीं ला पाते। जो जमा-पूँजी है उसको खर्च करना हमारे लिए असंभव होता है, इसीलिए चारो और ऐसा निरानंद छाया रहता है- ऐसा निरानंद! इसीलिए यह भी तुम्हारी जैसे दो-एक व्यक्ति ही समझ पाते हैं कि हममें अपने में कोई महत्ता है, साधारण लागों के मन में तो इसकी चेतना ही नहीं होती।"

ज़ोर से जम्हाई लेते हुए महिम बिस्तर से उठकर मुँह धोने जाने लगे तो उनके पैरों की आवाज़ से ही विनय के उत्साह की धारा रुक गई। गोरा से विदा लेकर व चला गया।

छत पर खड़े होकर गोरा ने पूर्व के लाल आकाश की ओर देखकर एक लंबी साँस ली। फिर बहुत देर तक वह छत पर ही टहलता रहा, देहात की ओर उसका जाना न हुआ।

इधर गोरा अपने हृदय के भीतर जिस आकांक्षा का, पूर्णता के जिस अभाव का अनुभव करता रहता था, उसे वह किसी भी तरह पूरा न कर पाता था। वह स्वयं ही नहीं, उसका प्रत्येक काम भी जैसे आकाश की ओर हाथ बढ़ाकर माँग रहा था, 'प्रकाश चाहिए, एक उज्ज्वल प्रकाश, एक सुंदर प्रकाश।' मानो और सभी उपकरण प्रस्तुत थे, सोना-चाँदी, हीरा-मोती कुछ भी महँगा नहीं था, वज्र-कवच भी दुर्लभ नहीं थे, केवल आशा और सांत्वना से फूटा हुआ स्निग्ध, सुंदर, अनुराग-रंजित प्रकाश ही

कहीं नहीं था! जो कुछ था, उसे बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं थी, केवल उसे चमकाने, लावण्यमय करके प्रकाशित करने की प्रतीक्षा थी।

जब विनय ने कहा कि किसी-किसी दिव्य क्षण में नर-नारी के प्रेम के द्वारा अनिर्वचनीय असाधारण जगमगा उठती है, तब पहले की भाँति गोरा इस बात को मज़ाक में नहीं उड़ा सका। मन-ही-मन उसने स्वीकार किया कि वह मिलन सामान्य मिलन नहीं होता, वह परिपूर्णता होती है, उसके संस्पर्श से सभी चीज़ों का वैभव जाता है, वह कल्पना को शरीर देता है और शरीर में प्राण भर देता है, वह प्राणों के भीतर प्राणान और मन के भीतर मनन को केवल दुगना कर देते हैं, यही नहीं, उन्हें एक नए रस से सराबोर भी कर देते हैं।

विनय के साथ सामाजिक संबंध-विच्छेद के दिन उसका हृदय जैसे गोरा के हृदय में एक अखंड संगीत के सुर जगा गया। विनय चला गया, दिन चढ़ आया, लेकिन वह संगीत बजता ही रहा। समुद्र की ओर बहती हुई दो नदियों के मिलने पर जैसा होता है, वैसे ही गोरा के प्रेम की धारा में विनय के प्रेम की धारा के गिरने पर उसमें तरंगों की टकराहट मुखर हो उठी। जिसे गोरा किसी तरह छिपाकर, बाँधकर दबाकर अपनी ऑंखों से ओझल ही रखने की कोशिश कर रहा था, वह आज कगार तोड़कर स्पष्ट और प्रबल रूप में प्रकट हो उठा और गोरा में आज इतनी शक्ति न रही कि उसे अवैध कहकर उसकी निंदा कर सके, या तुच्छ कहकर उसकी अवज्ञा कर सके।

सारा दिन ऐसे ही बीत गया। अंत में जब तीसरा पहर साँझ में ढला जा रहा था कंधे पर चादर डालकर गोरा बाहर निकल पड़ा। अपने-आप से बोला-जो मेरा ही है उसे मैं लूँगा। नहीं तो मैं पृथ्वी पर असम्पूर्ण ही रहूँगा, व्यर्थ ही हो जाऊँगा।

सारी दुनिया में सुचरिता एक उसी के आह्नान के लिए प्रतीक्षा कर रही है, इसके बारे में गोरा के मन में थोड़ी भी शंका न थी। आज संध्या को ही वह इस प्रतीक्षा को पूर्ण करेगा।

भीड़-भरे कलकत्ता शहर की एक सड़क पर तेज़ी से गोरा बढ़ता गया। उसका मन उसके शरीर का अतिक्रमण होकर कहीं चला गया था, रास्ते-भर उसे वह किसी तरह छू न सका।

सुचरिता के घर के सामने आकर एकाएक गोरा सचेत होकर ठिठक गया। वह इतनी बार वहाँ आया था किंतु आज तक उसने द्वार कभी बंद नहीं देखा था। लेकिन आज वह न केवल उढ़का था, बल्कि धक्का देने पर पता चला कि भीतर से बंद है। गोरा थोड़ी देर खड़ा सोचता रहा, फिर उसने दो-चार बार दरवाज़ा खटखटाया।

बैरा दरवाज़ा खोलकर बाहर आया। साँझ के धुँधले प्रकाश में गोरा को देखते ही कुछ पूछे जाने से पहले ही उसने बताया कि छोटी मालकिन घर पर नहीं है।

"कहाँ गई है?"

"ललिता दीदी के ब्याह के प्रबंध में कुछ दिनों से दूसरे घर में ही हैं"

गोरा ने क्षण-भर के लिए सोच लिया कि वह विनय के विवाह पर पहुँच जाएगा। इसी बीच घर से एक अपरिचित बाबू निकल आए, बोले, "क्यों महाशय, क्या चाहते हैं?"

उसे सिर से पैर तक देखकर गोरा ने कहा, "नहीं, कुछ नहीं चाहता।"

कैलाश ने कहा, "आइए न, ज़रा बैठिए, तम्बाकू पीजिए?"

कोई साथी न होने से कैलाश का समय काटे नहीं कटता था। चाहे कोई हो, किसी एक व्यक्ति को घर के भीतर बिठाकर गप्प करने बैठ सके तो चैन मिले। दिन में तो गली के मोड़ पर हुक्का हाथ में लिए खड़े-खड़े राह चलते लोगों का आना-जाना देखते-देखते किसी तरह वक्त कट जाता है, लकिन शाम को कमरे के भीतर उसका दम घुटने लगता है। हरिमोहिनी के साथ जो कुछ बातचीत करनी थी वह तो सब हो चुकी-हरमोहिनी की बात करने की शक्ति भी तो बहुत क्षीण थी। इसलिए कैलाश निचली मंज़िल में ड्योढ़ी से लगे एक छोटे कमरे में तख्त पर हुक्का लिए बैठे-बैठे बीच-बीच में बैरा को ही बुलाकर उसी के साथ बातें करके वक्त काटता था।

गोरा ने कहा, "नहीं, मैं अभी नहीं बैठ सकता।"

कैलाश फिर अनुरोध करने जा रहा था, लेकिन पलक मारने से पहले गोरा गली के पार निकल गया।

एक धारणा गोरा के मन में गहरी बैठी हुई थी। कि उसके जीवन की अधिकांश घटनाएँ अचानक नहीं होती रहीं, या कम-से-कम केवल उसकी व्यक्तिगत इच्छा से नहीं होती रही। उन सभी में स्वदेश-विधाता का कोई-न-कोई विशेष अभिप्राय रहा है, जिसे पूर्ण करने के लिए ही गोरा का जन्म हुआ है। इसीलिए अपने जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं में भी वह कोई विशेष अर्थ खोजने की चेष्टा करता रहता था। जब आज उसने अपने मन में इतनी बड़ी और इतनी प्रबल आकांक्षा लिए आकर एकाएक देखा कि सुचरिता का दरवाज़ा बंद है, और दरवाज़ा खुलवाने पर सुना कि सुचरिता घर पर नहीं है, तब उसने इसे भी एक विशेष अभिप्रायपूर्ण घटना माना। जो उसका मार्ग-निर्देश करते हैं। उन्होंने अपना निषेध आज इस ढंग से गोरा को जता दिया है।

इस जीवन में सुचरिता का द्वार उसके लिए बंद है, सुचरिता उसके पक्ष में नहीं है। गोरा- जैसे मनुष्य का अपनी कामना में बह जाना उचित नहीं है, उसका निज का कोई सुख-दु:ख नहीं है। वह भारतवर्ष का ब्राह्मण है, भारतवर्ष की ओर से उसे देवता की आराधाना करनी होगी, भारतवर्ष की ओर से तपस्या ही उसका काम है

आसक्ति-अनुरक्ति उसके लिए नहीं है। मन-ही-मन गोरा ने कहा- विधाता ने आसक्ति का सही रूप मुझे दिखा दिया है। बता दिया है कि वह शुभ्र नहीं है, शांत नहीं है। वह मन की तरह चंचल है, मद की तरह तीव्र है, वह बुध्दि को स्थिर नहीं रहने देती, वह एक चीज़ को किसी दूसरे ही रूप में दिखाती है। मैं सन्यासी हूँ, मेरी साधना में उसका कोई स्थान नहीं हैं।

बीच में कुछ समय वह आत्म-विस्मृत हो गया था, यह स्मरण करके गोरा पहले से भी कठोर हो उठा। वह जो समाज को भूलकर एक प्रबल मोह के वशीभूत हो गया था, इसका मूल कारण उसने नियम-पालन की शिथिलता को ही समझा।

प्रात:कालीन संध्या करके गोरा ने कमरे में आकर देखा, परेशबाबू बैठे हैं। उसके हृदय में एक बिजली-सी कौंध गई। परेशबाबू के साथ उसका जीवन किसी एक सूत्र की गहरी आत्मीयता में बँधा हुआ है, भीतर-ही-भीतर वह इसे स्वीकार किए बिना न रह सका। वह परेशबाबू को प्रणाम करके बैठ गया।

परेशबाबू बोले, "विनय के विवाह की बात तो तुमने ज़रूर सुनी होगी?"

गोरा ने कहा, "हाँ!"

परेशबाबू बोले, "वह ब्रह्म मत से विवाह करने को तैयार नहीं है।"

गोरा ने कहा, "तब तो उसका यह विवाह करना ही ठीक नहीं है।"

परेशबाबू तनिक हँस दिए क्योंकि इस बात पर कोई बहस करने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी। फिर बोले, "हमारे समाज में से कोई इस विवाह में भाग नहीं लेगा, विनय के घर के लोग भी कोई नहीं आएँगे, ऐसा सुना है। अपनी कन्या की ओर से मैं अकेला हूँ- शायद विनय की ओर से तुम्हारे सिवा कोई नहीं होगा, इसीलिए इस बारे में तुमसे सलाह करने आया हूँ।"

सिर हिलाकर गोरा ने कहा, "इस बारे में मुझसे क्या सलाह होगी- मैं तो इसमें नहीं हूँ।"

विस्मित होकर परेशबाबू ने पल-भर गोरा के चेहरे पर नज़र टिकाकर पूछा, "तुम भी नहीं हो?"

गोरा परेशबाबू के इस विस्मय से थोड़ा-सा लज्जित हुआ लेकिन इस संकोच को छिपाने के लिए ही उससे दुगने ज़ोर से कहा, "मैं इसमें कैसे पड़ सकता हूँ?"

परेशबाबू ने कहा, "मैं जानता हूँ कि तुम उसके बंधु हो, बंधु की ज़रूरत सबसे अधिक क्या ऐसे समय नहीं होती है?"

गोरा ने कहा, "मैं उसका बंधु ज़रूर हूँ, किंतु संसार में वही एकमात्र या सबसे अधिक क्या ऐसे समय नहीं होती है?"

गोरा ने कहा, "मैं उसका बंधु ज़रूर हूँ, किंतु संसार में वही तो एकमात्र या सबसे बड़ा बंधन नहीं है?"

परेशबाबू ने पूछा, "गौर, तुम क्या समझते हो कि विनय के आचरण से कोई अन्याय या अधर्म प्रकट होता है?"

गोरा ने कहा, "धर्म के भी तो दो पक्ष होते हैं- एक नित्य पक्ष और एक लौकिक पक्ष। धर्म जहाँ समाज के नियम में प्रकाशित होता है वहाँ उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती- करने से समाज टूट जाता है।"

परेशबाबू ने कहा- "नियम तो अनगिनत हैं। लेकिन सभी नियमों में धर्म ही प्रकाशित होता है, यह क्या निश्चित मान लेना होगा?"

गोरा के मन को परेशबाबू ने एक ऐसे बिंदु पर छुआ जहाँ उसमें पहले ही से एक मंथन हो रहा था और उस मंथन से एक सिध्दांत भी उपलब्ध हो रहा था। इसलिए जो बातें उसके भीतर उमड़ रही थीं उन्हें परेशबाबू के सामने कह डालने में उसे कोई संकोच नहीं हुआ। उसकी बात का निचोड़ यह था कि अगर हम स्वयं अपने को नियमों के द्वारा समाज के अधीन न कर लेते तो समाज के गहरे भीतरी उद्देश्यों में बाधक हो जाते हैं, क्योंकि वे उद्देश्य गूढ़ होते हैं, उन्हें स्पष्ट देख सकना हर किसी के लिए संभव नहीं होता। इसीलिए हम में यह क्षमता होनी चाहिए कि बिना विचार किए भी समाज को मानते चल सकें।

स्थिर होकर परेशबाबू ने गोरा की बात अंत तक सुनी। जब वह रुक गया और अपनी प्रगल्भता पर कुछ झेंप भी गया, तब परेशबाबू ने कहा, "तुम्हारी बात मोटे तौर पर तो मैं मानता हूँ। यह बात ठीक है कि प्रत्येक समाज में विधाता का एक विशेष अभिप्राय होता है। यह अभिप्राय सभी के सामने स्पष्ट हो ऐसा भी नहीं है। लेकिन

उसे स्पष्ट देखने की कोशिश करना ही तो मनुष्य का काम है, पेड़-पौधों की तरह अचेतन भाव से नियम को मानते जाने में तो उसकी सार्थकता नहीं है।"

गोरा ने कहा, "मेरा कहना मात्र यह है कि पहले समाज को सब तरफ से पूरी तरह मानकर चलने से ही समाज के यथार्थ उद्देश्य के बारे में हमारी चेतना निर्मल हो सकती है, उसका विरोध करने से हम सिर्फ उसमें बाधा ही नहीं देते बल्कि उसे ग़लत भी समझते हैं।"

परेशबाबू ने कहा, "विरोध और बाधा के बिना तो सच्चाई की परीक्षा हो ही नहीं सकती। और सत्य की परीक्षा किसी एक प्राचीन समय में मनीषियों के एक गुण के सामने होकर हमेशा के लिए समाप्त हो गई हो, ऐसा नहीं है। हर युग के सामने बाधाओं और विरोधों के बीच से सत्य को नवीन होकर प्रकट होना होगा। जो हो, इन सब बातों को लेकर मैं बहस करना नहीं चाहता। मैं मनुष्य की व्यक्गित स्वाधीनता का पक्षधर हूँ। उसी स्वाधीनता के भाव से हम ठीक-ठीक जान पाते हैं। कि कौन-सा नित्य सत्य है और कौन-सी नश्वर कल्पना। इसी को जानने और जानने की चेष्टा करने पर ही समाज का हित निर्भर करता है।"

परेशबाबू यह कहकर उठ गए। गोरा भी उठ खड़ा हुआ। परेशबाबू ने कहा, "मैंने सोचा था ब्रह्म-समाज के अनुरोध से शायद मुझे इस विवाह से थोड़ा-सा अलग रहना होगा, विनय के मित्र के नाते सारा काम तुम अच्छी तरह सम्पन्न करा दोगे। यहीं पर तो आत्मीयों से मित्र अच्छे रहते हैं- उन्हें समाज का आघात नहीं सहना पड़ता। लेकिन जब तुम भी विनय को त्याग देना ही कर्तव्य समझते हो तब सारा भार मुझ पर ही है, यह काम अकेले मुझको ही निबाहना होगा।"

परेशबाबू के अकेले रहने का अर्थ वास्तव में कितना अकेला है, यह उस समय गोरा नहीं जान सका था। वरदासुंदरी उनके विरुध्द खड़ी हुई थीं,घर की लड़कियाँ भी प्रसन्न नहीं थीं और हरिमोहिनी की आपत्ति के डर से सुचरिता को परेशबाबू ने विवाह के बारे में परामर्श करने के लिए बुलाया ही नहीं था। उधर ब्रह्म-समाज के सभी लोग उनके विरुध्द आक्रामक हो उठे थे और विनय के चाचा से उन्हें जो दो-एक पत्र मिले थे उनमें उन्हें कुटिल, कुचक्री और लड़कों को बिगाड़ने वाला कहकर गालियाँ ही दी गई थीं।

घर में परेशबाबू के बाहर होते ही अविनाश और गोरा के गुट के दो-एक दूसरे सदस्य कमरे में आ गए और परेशबाबू को लक्ष्य करके मज़ाक उड़ाने लगे। गोरा ने कहा,

"वह श्रध्दा के पात्र हैं। श्रध्दा करने की क्षमता तुम लोगों में न हो तो कम-से-कम उनका मज़ाक करने के ओछेपन से तो बचो!"

गोरा को फिर से अपने गुट के लोगों के बीच आकर अपने पुराने अभ्यस्त कामों में फँसना पड़ा। लेकिन यह सब नीरस है- कितना नीरस! यह तो कुछ भी नहीं है, इसे काम कहा ही नहीं जा सकता, इसमें कहीं कोई जीवंतता नहीं है! इस तरह केवल लिख-पढ़कर, बातें करके, गुट बाँधकर कोई काम नहीं होता बल्कि निकम्मेपन का ही विस्तार होता जाता है। गोरा के मन में यह बात पहले कभी इतने प्रबल रूप में न आई थी जितनी कि इस समय आई। नई शक्ति से छलकता हुआ उसका जीवन अपने मुक्त बहने के लिए एक नया सत्य-पथ ढूँढ़ रहा था। वह उसे बिल्कुल अच्छा नहीं लग रहा था।

इधर प्रायश्चित सभा का आयोजन ज़ोरों से चल रहा था। इस आयोजन में गोरा को विशेष उत्साह था। वह प्रायश्चित केवल जेल की अशुचिता का प्रायश्चित नहीं था, बल्कि इसके द्वारा सभी ओर से संपूर्ण निर्मल होकर जैसे नई देह पाकर वह अपने कर्मक्षेत्र में एक बार फिर नया जन्म लेना चाहता था। प्रायश्चित का विधान ले लिया गया था, दिन भी निश्चित हो गया था, पूर्व और पश्चिम बंग के विख्यात अध्यापकों-पंडितों को निमंत्रण-पत्र भेजे जा रहे थे- गोरा के गुट में जो धनी थे उन्होंने रुपए भी जुटा दिए। गुट के सभी लोग समझते थे कि बहुत दिन बाद देश में एक ढंग का काम होने जा रहा है। अविनाश ने अपने संप्रदाय के सभी लोंगों से चुपके-चुपके सलाह करके तय कर रखा है कि उस दिन सभा में गोरा को सब पंडितों की ओर से फूल-चंदन, धान्य-दूर्वा आदि सब उपचारों के साथ 'हिंद-धर्म-प्रदीप' की उपाधि दी जाएगी। इस बारे में संस्कृत में कुछ श्लोक लिखकर,उसके नीचे सभी ब्राह्मण पंडितों के हस्ताक्षर कराकर, सुनहरी स्याही से छपाकर चंदन के बक्स में रखकर उसे उपहार दिया जाएगा, साथ ही मैक्ससूलर द्वारा प्रकाशित ऋग्वेद के खंड को बहुमूल्य चमड़े की जिल्द बँधाकर सबसे प्राचीन और मान्य अध्यापकों के हाथों भारतवर्ष के आशीर्वाद-स्वरूप उसे भेंट कराया जाएगा। इस सबसे यह भाव अत्यंत प्रभावी रूप से प्रकट किया जा सकेगा कि धर्म-भ्रष्टता के आधुनिक युग में गोरा ही वेद-विहित सनातन-धर्म का सच्चा रक्षक है।

उस दिन के कार्यक्रम को अत्यंत प्रीतिकर और फलदायक बनाने के लिए गोरा से छिपकर उसके गुट के लोगों की मीटिंग बराबर चल रही थी।

अपने देवर कैलाश का हरिमोहिनी को एक पत्र मिला था। उसने लिखा था, "श्री चरणों में आशीर्वाद। यहाँ सब मंगल है। अपने कुशल समाचार से हमारी चिंता दूर करें।"

यह कहने की ज़रूरत नहीं कि हरिमोहिनी ने जब से उनका घर छोड़ा था तभी से उन्हें इस चिंता को ढोना पड़ता आ रहा था, लेकिन कुशल समाचार का अभाव मिटाने के लिए अभी तक तो उन्होंने कोई कोशिश नहीं की थी। खुदी, पटल, भजहरि आदि कई लोगों के समाचार देकर अंत में कैलाश ने लिखा था, "जिस पात्री की बात आपने लिखी है उसकी पूरी जानकारी दीजिएगा। आपने लिखा है कि वह बारह-तेरह बरस की होगी लेकिन देखने में बहुत बड़ी दीखती है, इसमें तो कोई हर्ज नहीं है। उसकी जिस संपत्ति की बात आपने लिखी है उस पर अधिकार जीवन-भर का है या कि चिर-स्थाई, इसकी पूरी पड़ताल करके लिखें तो बड़े भाइयों को बताकर उनकी सम्मति ले सकूँगा। यों मैं समझता हूँ कि वे असहमत न होंगे। पात्री की हिंदू धर्म में निष्ठा है, यह सुनकर बेफिक्र हुआ लेकिन इतने दिन वह ब्रह्म घर में पली है, यह बात किसी को पता न लगे इसका ध्यान करना होगा- इसलिए यह बात और किसी को न बताइएगा। अगली पूर्णिमा को चंद्र-ग्रहण है, गंगा-स्नान का योग है, सुविधा हुई तो उसी समय आकर कन्य देख लूँगा।" इतने दिन जैसे-तैसे हरिमोहिनी कलकत्ता में काटती रही थी। लेकिन ससुराल लौट सकने की संभावना के अंकुरित होते ही उनका मन उतावला हो उठा। निर्वासन का एक-एक दिन उन्हें असह्य लगने लगा, इच्छा होने लगी कि तुरंत सुचरिता को कहकर दिन तय करके काम संपन्न कर डालें। लेकिन बहुत जल्दी करने का भी उनका साहस न हुआ। क्योंकि सुचरिता को जितना ही वह निकट से देखती थीं उतना ही समझती जाती थीं कि वह उसे ठीक तरह समझ नहीं सकी है।

हरिमोहिनी मौके की ताक में रहने लगीं और सुचरिता के प्रति पहले से भी अधिक सचेष्ट रहने लगीं, यहाँ तक कि पहले पूजा में भी वह जितना समय लगाती थीं उसमें धीरे-धीरे कमी होने लगी। जैसे सुचरिता को वह थोड़ी देर के लिए भी आँखों से ओझल न होने देना चाहती थी।

सुचरिता ने लक्ष्य किया कि सहसा गोरा का आना बंद हो गया है। उसने समझ लिया कि हरिमोहिनी ने गोरा को ज़रूर कुछ कहा होगा। उसने मन-ही-मन कहा- अच्छी बात है, ऐसा ही सही। वह न आएँ, लेकिन वही मेरे गुरु हैं।

जो गुरु ऑंखों के सामने रहता है, उससे अप्रत्यक्ष गुरु का प्रभाव कहीं ज्यादा होता है क्योंकि उस स्थिति में गुरु की उपस्थिति की कमी मन अपने भीतर से ही पूरी तरह लेता है। गोरा सम्मुख होता तो सुचरिता उससे बहस करती, पर अब वह गोरा की रचनाएँ पढ़कर उसके वाक्यों को बिना प्रतिवाद स्वीकार कर लेती। जो समझ न आता मन-ही-मन उसके बारे में सोच लेती, गौर बाबू होते तो ज़रूर समझा देते।

किंतु गोरा की उस तेजस्वी मूर्ति को देखने और उसकी वज्र-गंभीर वाणी सुनने की पिपासा क्या किसी तरह मिट सकती थी? अपनी इस अतृप्त आंतरिक उत्सुकता से सुचरिता भीतर-ही-भीतर घुटने लगी। रह-रहकर एक तीखे दर्द के साथ उसे ध्यान आता, कितने लोग बिना किसी प्रयास के दिन-रात गोरा का दर्शन पा सकते हैं, लेकिन उस दर्शन का कोई महत्व वह नहीं जानते।

एक दिन ललिता ने तीसरे पहर आकर सुचरिता के गले से लिपटकर कहा, "सुचि दीदी!"

सुचरिता ने कहा, "कहो ललिता?"

ललिता ने कहा, "सब निश्चित हो गया है।"

सुचरिता ने पूछा, "कब का निश्चय हुआ?"

ललिता ने कहा, "अगले सोमवार को।"

सुचरिता ने पूछा, "कहाँ?"

सिर हिलाकर ललिता ने कहा, "वह सब तो मैं नहीं जानती, बाबा को पता है।"

बाँह से ललिता को घेरते हुए सुचरिता ने कहा,"तू खुश है न?"

ललिता ने कहा, "खुश क्यों न होऊँगी?"

सुचरिता ने कहा, "तू जो चाहती थी सब तुझे मिल गया, अब किसी से झगड़ा करने को कुछ नहीं रहा- लेकिन मुझे भय लगता है, कहीं इसी से अब तेरा उत्साह ठंडा न पड़ जाए।"

हँसकर ललिता ने कहा, "क्यों, झगड़ा करने के लिए किसी की कमी क्यों होगी? अब तो बल्कि ढूँढ़ने घर से बाहर भी नहीं जाना पड़ेगा।"

तर्जनी से ललिता का गाल दबाते हुए सुचरिता ने कहा, "यह बात है! अभी से इस सबकी भी तैयारी हो रही है। तब तो मैं विनय से कह दूँगी,अब भी समय है, वह बेचारा सँभल सकता है।"

ललिता ने कहा, "अब तुम्हारे बेचारे को सँभलने का अवसर नहीं मिलने का। अब उसका छुटकारा नहीं है। जन्मपत्री में जो मुसीबत लिखी थी वह फल रही है, अब तो माथा पीटने के सिवा कोई चारा नहीं है!"

गंभीर होकर सुचरिता ने कहा, "मुझे कितनी प्रसन्नता हो रही है बता नहीं सकती, ललिता! विनय जैसे स्वामी के तू योग्य हो सके, यही मैं प्रार्थना करती हूँ।"

ललिता बोली, "वाह! क्यों नहीं! जैसे मेरे योग्य तो किसी को होना नहीं होगा। इस बारे में उन्हीं से एक बार पूछकर देख लो न। एक बार उनकी राय सुन लो, फिर तुम्हें भी पछतावा होगा कि इतनी बड़ी अचरज-भरी हस्ती का स्नेह पाकर भी इतने दिनों तक तुमने अपने सौभाग्य की पहचना-कितनी अंधी हो रही थीं।"

सुचरिता ने कहा, "चलो खैर, अब तो एक जौहरी मिल गया न। जब सही दाम लगाने वाला मिल गया तब किस बात का खेद- अब हम जैसे अनाड़ियों से स्नेह माँगने की ज़रूरत ही नहीं होगी।"

ललिता ने कहा, "होगी कैसे नहीं? बहुत होगी।" कहते-कहते उसने सुचरिता के गाल पर इतने ज़ोर की चुटकी काटी कि वह 'उफ' कर उठी।"तुम्हारे स्नेह की ज़रूरत मुझे बराबर होगी। मुझे धोखा देकर वह और किसी को देने से नहीं चलेगा।"

ललिता के गाल से अपना गाल सटाते हुए सुचरिता ने कहा**, "**किसी को नहीं दूँगी**,** किसी को नहीं दूँगी।**"**

ललिता ने पूछा**, "**किसी को नहीं**?** या बिल्कुल किसी को भी नहीं**?"**

सुचरिता ने केवल सिर हिला दिया। तब कुछ अलग हटकर बैठती ललिता बोली, "देखो भई सुचि दीदी, तुम तो जानती हो तुम्हारा और किसी को प्यार करना मैं कभी नहीं सह सकती थी। अब तक मैंने तुमसे नहीं कहा, आज कहती हूँ- गौरमोहन बाबू जब हमारे घर आते थे- नहीं, दीदी, ऐसा करने से नहीं चलेगा, मुझे जो कहना है आज मैं कहकर ही रहूँगी-तुमसे मैंने कभी कुछ नहीं छिपाया, लेकिन न जाने क्यों यह एक बात तुमसे किसी तरह नहीं कह सकी और इसके लिए बराबर पीड़ा पाती रही हूँ। यह

बात कहे बिना मैं तुमसे विदा लेकर नहीं जा सकूँगी। गोरमोहन बाबू जब हमारे घर आते थे तब मुझे बड़ा गुस्सा आता था- क्यों आता था? तुम सोचती थीं, कि मैं कुछ समझती नहीं। मैंने देखा था, तुम मेरे सामने उनका नाम भी नहीं लेती थीं। इससे मुझे और भी गुस्सा आता था। तुम उन्हें मुझसे भी ज्यादा प्यार करो यह मैं सह नहीं सकती थी.... नहीं दीदी, मुझे कहने दो-और इससे मुझे कितना कष्ट होता था यह मैं अब क्या बताऊँ। आज भी तुम मुझसे वह बात नहीं करोगी अगर तुम्हारा.... "

हड़बड़ाकर सुचरिता ने ललिता का मुँह बंदर करते हुए कहा, "ललिता, तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ, वह बात ज़बान पर न ला। उसे सुनकर मेरा धरती में समा जाने को मन हो उठता है।"

ललिता ने कहा, **"क्यों भई, उन्होंने क्या....?"**

छटपटाकर सुचरिता ने कहा, "नहीं-नहीं। ललिता, पागलों की-सी बात मत कर। जो बात सोची भी नहीं जा सकती वह कहनी भी नहीं चाहिए।"

सुचरिता के इस संकोच पर बिगड़ते हुए ललिता ने कहा, "लेकिन भई, यह तो तुम्हारी ज्यादती है। मैंने खूब देखा है और दावे से कह सकती हूँ कि...."

ललिता से हाथ छुड़ाकर सुचरिता कमरे से बाहर निकल गई। ललिता ने पीछे-पीछे दौड़ते हुए जाकर उसे पकड़ लिया और वापस लाते हुए कहा, "अच्छा-अच्छा, और मैं कुछ नहीं कहती।"

सुचरिता ने कहा, **"फिर कभी मत कहना!"**

ललिता ने कहा, "इतनी बड़ी प्रतिज्ञा तो मुझसे नहीं निभ सकती। कहने का दिन आएगा तो कहूँगी, नहीं तो नहीं कहूँगी, बस इतना वायदा कर सकती हूँ।"

उधर हरिमोहिनी कुछ दिनों से बराबर सुचरिता पर नज़र रखती थीं और उसके पीछे-पीछे घूमती रहती थी। सुचरिता सब समझती थी और हरिमोहिनी की यह शंकापूर्ण सतर्कता उसके मन पर एक बोझ-सी बनी रहती थी। वह भीतर-ही-भीतर छटपटाती रहती लेकिन कह कुछ भी न पाती थी। आज ललिता के चले जाने के बाद बहुत थका-टूटा मन लेकर सुचरिता मेज़ पर दोनों हाथों के बीच सिर टेककर रोने लगी। बैरा कमरे में बत्ती जलाने आ रहा था, इशारे से उसे रोक दिया। वह समय हरिमोहिनी की संध्या-वंदना का था। लेकिन हरिमोहिनी ने ऊपर से ही ललिता को

जाते हुए देखकर एकाएक नीचे उतरकर सुचरिता के कमरे में आकर पुकारा, "राधारानी!"

छिपाकर ऑंसू पोंछती हुई सुचिता जल्दी से उठ खड़ी हुई।

हरिमोहिनी ने पूछा, "क्या हो रहा है?"

सुचरिता ने कोई उत्तर नहीं दिया।

कठोर स्वर में हरिमोहिनी ने पूछा, "यह सब क्या हो रहा है, मेरी कुछ समझ में नहीं आता।"

सुचरिता ने कहा, "मौसी! क्यों दिन-रात तुम मुझ पर इस तरह निगरानी रखती हो?"

हरिमोहिनी ने कहा, "निगरानी क्यों रखती हूँ, यह क्या तुम नहीं समझतीं? यह जो खाना-पीना छोड़ रखा है और रोती हो, ये किस तरह के लच्छन हैं? मैं बच्ची तो नहीं हूँ, मैं क्या इतना भी नहीं समझती?"

सुचरिता ने कहा, "मैं तुमसे कहती हूँ मौसी, तुम कुछ भी नहीं समझतीं। तुम इतना गलत समझती हो कि मेरे लिए पल-पल और असह्य होता जाता है।"

हरिमोहिनी ने कहा, "अच्छी बात है, मैं गलत ही समझती सही, अब तुम्हीं ठीक समझा दो न!"

पूरा ज़ोर लगाकर सुचरिता ने अपना संकोच दूर करते हुए कहा, "अच्छा, लो मैं कहती हूँ- मैंने गुरु से एक ऐसी बात पाई है जो मेरे लिए नई है, उसे पूरी तरह हृदयंगम करने के लिए बड़ी शक्ति चाहिए, उसी का अभाव मुझे खटकता है। आपसे झगड़ा करते-करते मैं ऊब गई हूँ। लेकिन मौसी,हमारे संबंध को तुमने बहुत विकृत करके देखा है, तुमने उन्हें अपमान करके निकाल दिया है- तुमने उन्हें जो कुछ कहा है सब गलत है, मेरे बारे में जो सोचा है सब भ्रम है। तुमने बड़ा अन्याय किया है! उन जैसे व्यक्ति को नीचे गिराना तो तुम्हारे वश की बात नहीं है, पर मुझ पर तुमने ऐसा अत्याचार क्यों किया- मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? कहते-कहते सुचरिता का गला रुँध गया और वह दूसरे कमरे में चली गई।

हरिमोहिनी हतबुध्दि-सी खड़ी रहीं। उन्हांने मन-ही-मन कहा-बाप रे, ऐसी बातें तो मैंने सात जन्म में नहीं सुनीं।

सुचरिता के मन को कुछ शांत होने का समय देकर हरिमोहिनी उसे भोजन के लिए बुला ले गईं। उसके खाने बैठने पर बोली, "देखो राधारानी,मेरी उम्र कोई ऐसी कम नहीं है। हिंदू-धर्म में जो कुछ कहा गया है वह बचपन से करती रही हूँ, और विस्तार से सब सुन भी चुकी हूँ। तुम यह सब जानती नहीं, इसीलिए तुम्हारा गुरु बनाकर गौरमोहन तुम्हें फुसला रहा है। मैंने भी उसकी कुछ बातें सुनी हैं- उनमें तत्व असल में कुछ नहीं है, वह शास्त्र उसका खुद का गढ़ा हुआ है। यह बात तो हम लोग समझ सकते हैं न, जिन्होंने गुरु से उपदेश पाया है! राधारानी, मैं तुमसे कहती हूँ, तुम्हें यह सब करने की आवश्यकता नहीं है, जब समय होगा तो मेरे जो गुरु हैं वो ऐसे नकली नहीं हैं- वही तुम्हें मंत्र देंगे। तुम डरो मत, मैं तुम्हें हिंदू-समाज में खींच लाऊँगी। ब्रह्म-घर में थीं तो क्या हुआ? वह बात जानेगा ही कौन? तुम्हारा कद कुछ बड़ा हो गया है ज़रूर, लेकिन ऐसी तो बहुत लड़कियाँ होती हैं जो जल्दी ही बड़ी लगने लगती हैं, फिर कोई तुम्हारी जन्म-पत्री देखने थोड़े जाएगा? और पास में जब पैसा है तो कहीं कोई मुश्किल नहीं होगी, सब चल जाएगा! केवट का बेटा कायस्थ बन गया, यह तो मैंने अपनी ऑंखों से देखा है। मैं हिंदू-समाज में ऐसे सद्ब्राह्मण के घर तुम्हें पहुँचा दूँगी कि किसी की कुछ कहने की हिम्मत न होगी, वही तो समाज के अगुआ हैं। इसलिए तुम्हें इस गुरु की साधना में यों रो-रोकर मरने की कोई ज़रूरत नहीं है।"

जब हरिमोहिनी ये बातें विस्तार से बखान रही थीं तब सुचरिता की कुछ खाने की इच्छा कब की मर चुकी थी और उसके गले से कौर जैसे नीचे नहीं उतर रहा था। फिर भी वह चुपचाप हठ करके खाती रही, क्योंकि वह जानती थी, उसके कम खाने की बात को लेकर टीका-टिप्पणी होगी उससे उसका कोई भला नहीं होगा।

हरिमोहिनी ने सुचरिता की ओर से जब कोई संकेत नहीं पाया तो मन-ही-मन बोलीं- मैं भरपाई इन लोगों से! इधर हिंदू-हिंदू की रट लगाकर रो रही है, उधर इतने अच्छे सुयोग की बात सुनकर अनसुनी कर देती है! प्रायश्चित नहीं करना होगा, कोई सफाई नहीं देनी होगी, केवल इधर-उधर दो-चार रुपए खर्च करके सहज ही समाज में आ जाएगी- इस पर भी जिसे उत्साह न हो और अपने को कहे हिंदू। गोरा कितना बड़ा छली है यह हरिमोहिनी पहले ही समझ चुकी थीं, फिर भी इस सब छलछंद का उद्देश्य क्या हो सकता है, यह सोचने पर उन्हें यही जान पड़ा कि सारे मामले की जड़ में सुचरिता की सम्पत्ति और उसका रूप-यौवन ही होगा। कन्या का और उसके साथ-साथ कंपनी के कागज़ आदि का उध्दार करके उन सबको जल्दी-से-जल्दी ससुराल रूपी दुर्ग में बंद कर लेने में ही कल्याण है। लेकिन सुचरिता के मन को इसके लिए अभी थोड़ा और गलाना होगा, नहीं तो वह मानेगी नहीं। इसी के यत्न में

हरिमोहिनी सुचरिता के सामने दिन-रात अपनी ससुराल का बखान करने लगीं। उनका कितना असाधारण प्रभाव है,समाज में वे लोग कैसे असंभव को संभव बना सकते हैं, अनेक उदाहरण देकर हरिमोहिनी यह बताने लगीं। उनका विरोध करने जाकर कितने निष्कलंक लोग भी समाज से अपमानित हुए हैं, और उनके शरणागत होकर कितने लोग मुसलमान के हाथ की मुर्गी खाकर भी हिंदू-समाज का दुर्गम मार्ग हँसी-खुशी पार कर गए हैं- इन सब घटनाओं को नाम-धाम का ब्यौरा देकर हरिमोहिनी ने बिल्कुल विश्वसनीय बना दिया।

सुचरिता उनके घर न आया करे, अपनी यह इच्छा वरदासुंदरी ने उससे छिपाई नहीं थी, क्योंकि उन्हें अपनी स्पष्टवादिता पर गर्व था। जब भी किसी के प्रति वह नि:संकोच कठोरता का व्यवहार करती थीं तभी अपने इस गुण की घोषणा किया करती थीं। इसलिए सुचरिता वरदासुंदरी के घर में किसी तरह के सम्मान की आशा नहीं कर सकती, यह उन्होंने उसे बड़े स्पष्ट शब्दों मे जता दिया था। सुचरिता जानती थी कि उसके उनके घर आने-जाने से परेशबाबू को बहुत कष्ट उठाना पड़ जाएगा। इसीलिए जब तक बहुत ही आवश्यक न हो जाए वह उनके घर नहीं जाती थी, और इसीलिए रोज़ परेशबाबू दो-एक बार स्वयं सुचरिता के घर आकर उसे देख जाते थे।

कुछ दिन से कई चिंताओं और काम की व्यस्तता के कारण परेशबाबू सुचरिता के घर नहीं आ सके थे। इन दिनों प्रतिदिन सुचरिता बड़ी व्यग्रता के साथ उनके आने की प्रतीक्षा कर रही थी, लेकिन मन-ही-मन संकुचित भी थी। परेशबाबू के साथ उसके गहरे मंगल का संबंध कभी टूट नहीं सकता, यह वह निश्चय जानती थी, लेकिन बाहर के दो-एक सूत्र जो उसे खींच रहे थे उनका दंश भी उसे चैन न लेने देता था। इधर हरिमोहिनी उसके जीवन को दिन-पर-दिन असह्य बनाए दे रही थीं। अंत में सुचरिता वरदासुंदरी की नाराज़गी का सामना करने की सोचकर परेशबाबू के घर चली गई। तीसरे पहर का सूर्य उस वक्त पश्चिम की ओर के तिमंज़िले मकान की आड़ में होकर एक लंबी छाया फैला रहा था, उसी छाया में सिर झुकाए परेशबाबू अपने बगीचे में धीरे-धीरे अकेले टहल रहे थे।

पास जाकर सुचरिता भी उनके साथ-साथ चलने लगी। बोली, "बाबा, कैसे हो?"

एकाएक अपनी सोच में बाधा पाकर परेशबाबू थोड़ी देर ठिठकर एकटक राधारानी के चेहरे की ओर देखते रहे फिर बोले, "अच्छा हूँ, राधो!"

दोनों फिर टहलने लगे। परेशबाबू ने कहा, "सोमवार को ललिता का विवाह है।"

सुचरिता सोच रही थी, वह पूछेगी कि इस विवाह में उसे किसी तरह की सलाह या सहायता के लिए क्यों नहीं बुलाया गया, किंतु झिझक भी रही थी क्योंकि अब उनकी ओर से भी कहीं कुछ बाधा आ खड़ी हुई थी। नहीं तो पहले तो वह बुलाए जाने के लिए बैठी भी न रहती!

मन-ही-मन सुचरिता जो सोच रही थी, उसकी बात परेशबाबू ने स्वयं उठाई। बोले, "इस बार तुम्हें नहीं बुला सका, राधो?"

सुचरिता ने पूछा, "क्यों, बाबा?"

परेशबाबू सुचरिता के इस प्रश्न का कोई उत्तर न देकर चेहरे की पड़ताल करते रहे। सुचरिता से और न रहा गया, सिर झुकाकर उसने कहा, "तुम सोच रहे होगे कि मेरे मन में एक परिवर्तन आ गया है।"

परेशबाबू ने कहा, "हाँ, इसीलिए सोचा तुमसे किसी तरह का अनुरोध करके तुम्हें संकट में नहीं डालना चाहिए।"

सुचरिता ने कहा, "बाबा, मैंने सोचा था कि सारी बात तुम्हें बताऊँगी, लेकिन इधर मिलना ही नहीं हुआ। इसीलिए आज मैं खुद आई हूँ। अपने मन की बात बहुत अच्छी तरह तुम्हें समझा सकने की क्षमता तो मुझमें नहीं है- डर लगता है, कहीं कुछ अनुचित न कह जाऊँ!"

परेशबाबू बोले, "मैं जानता हूँ ये सब बातें स्पष्ट करके कहना इतना आसान नहीं है। तुमने कोई चीज़ केवल भाव रूप में पाई है, उसका अनुभव तो करती हो उसका आकार-प्रकार तुम्हारे सामने स्पष्ट नहीं हुआ है।"

कुछ आश्वस्त होकर सुचरिता ने कहा, "हाँ, ठीक यही बात है। किंतु मेरा अनुभव कितना प्रबल है, यह तुम्हें कैसे बताऊँ! मैंने जैसे एक नया जीवन पाया है, एक नई चेतना। अपने को मैंने इस कोण से, इस ढंग से पहले कभी नहीं देखा। मेरे साथ अब तक मेरे देश के अतीत और भविष्य का कोई संबंध ही नहीं था। लेकिन वह संबंध कितना बड़ा और कितना यथार्थ है यह बात मैंने आज अपने हृदय में इतने आवश्यजनक रूप से पहचानी है कि किसी तरह भूल नहीं सकती। बाबा, मैं सच कहती हूँ, पहले कभी मैं यह नहीं कह सकती थी कि मैं हिंदू हूँ। लेकिन अब मेरा मन

बिना संकोच के और बल देकर कहता है, मैं हिंदू हूँ।' इससे मुझे एक अपूर्व आनंद भी होता है।"

परेशबाबू ने पूछा, "इस बात के हर अंश और हर पहलू पर विचार किया है?"

सुचरिता बोली, "पर विचार करने की क्षमता मुझमें कहाँ है? लेकिन इसके बारे में मैंने बहुत पढ़ा है और बहुत चर्चा भी की है। मैंने पूरी चीज़ को जब तक उसके सही और विस्तृत रूप में देखना नहीं सीखा था, तब तक मैं जिसे हिंदू कहा जाता है उसकी छोटी-छोटी बातों को ही बहुत बढ़ाकर देखती थी- उससे मेरे मन में समूची चीज़ के प्रति भारी घृणा जागती थी।"

उसकी बात सुनकर परेशबाबू को कुछ आश्चर्य हुआ। वह स्पष्ट समझ सके कि सुचरिता के मन में एक नए बोध का संचार हो रहा हैं उसने कोई सत्य-वस्तु पाई है, इसीलिए उसमें आत्म-विश्वास जाग रहा है। ऐसी बात नहीं है कि वह कुछ समझे बिना मुग्ध-सी किसी अस्पष्ट आवेश के प्रवाह में बही जा रही है।

सुचरिता ने कहा, "बाबा, मैं यह बात क्यों कहूँ कि मैं अपने देश और जाति से विच्छिन्न एक तुच्छ मनुष्य हूँ? यह क्यों न कहूँ कि 'मैं हिंदू हूँ'।"

हँसकर परेशबाबू ने कहा, "यानी तुम मुझसे ही पूछ रही हो कि मैं स्वयं को हिंदू क्यों नहीं कहता। सोचकर देखा जाय तो इसका कोई बहुत विशेष कारण तो नहीं है। यों एक कारण यह है कि हिंदू मुझे हिंदू नहीं मानते, दूसरा कारण यह है कि मेरा धर्म-विश्वास जिन लोगों से मिलता है वे अपने को हिंदू नहीं कहते।"

चुप होकर सुचरिता सोचने लगी। परेशबाबू बोले, "यही तो मैंने कहा ही कि ये कोई विशेष कारण नहीं है, ये तो केवल ऊपरी बातें हैं। ऐसी बाधाओं को अमान्य भी किया जा सकता है। लेकिन एक गंभीर कारण भीतर का भी है। हिंदू-समाज में प्रवेश पाने का कोई मार्ग नहीं है। कम-से-कम बड़ा दरवाज़ा नहीं है, खिड़कियाँ-झरोखे हो सकते हैं। हिंदू-समाज समुची मानव-जाति का समाज नहीं है- केवल उन्हीं का समाज है जो दैवयोग से हिंदू होकर जन्म लेते हैं।"

सुचरिता ने कहा, "ऐसे तो सभी समाज होते हैं।"

परेशबाबू "नहीं, कोई बड़ा समाज ऐसा नहीं है। मुसलमान समाज का सिंहद्वार मनुष्य-मात्र के लिए खुला है, ख्रिस्तान समाज भी सभी का स्वागत करता है। जो

कई-एक और समाज ख्रिस्तान समाज के अंग हैं, उन सबमें भी यही बात है। मैं यदि अंग्रेज होना चाहूँ तो एक एकदम असंभव बात नहीं है- इंग्लैंड में रहकर मैं उनके नियम से चलकर अंग्रेज़ समाज में शामिल हो सकता हूँ, यहाँ तक कि उसके लिए मुझे ख्रिस्तान होने की भी आवश्यकता नहीं है। अभिमन्यु व्यूह में केवल घुसना जानता था, उससे निकलना नहीं; हिंदू उससे ठीक उल्टा है उसके समाज में घुसने का रास्ता बिल्कुल बंद है, निकलने के रास्ते सैकड़ों-हज़ारों हैं।"

सुचरिता ने कहा, "लेकिन बाबा, फिर भी तो अब तक हिंदू समाप्त नहीं हुआ- उनका समाज तो अभी बना हुआ है।"

परेशबाबू ने कहा, "समाज का क्षय होना परख में समय लगता है। पुराने समय में हिंदू-समाज की खिड़कियाँ खुली थीं। उन दिनों इस देश की अनार्य जातियाँ हिंदू-समाज में प्रवेश पाकर एक गौरव का अनुभव करती थीं। इधर मुसलमानो के राज में भी देश में प्राय: सभी जगह हिंदू राजों-रजवाड़ों का प्रभाव अधिक था, इसलिए समाज से किसी के निकल जाने के विरुध्द नियम-बंधनों की कमी न थी। अब अंग्रेज़ के राज्य में सभी कानून के द्वारा रक्षित हैं, अब वैसे कृत्रिम उपायों से समाज के द्वारा पर साँकल लगाए रखने का उतना अवसर नहीं है- इसीलिए कुछ समय से यही देखने में आ रहा है कि भारतवर्ष में हिंदू कम हो रहे हैं और मुसलमा बढ़ रहे हैं, यदि यही क्रम रहा तो धीरे-धीरे देश मुसलमान-प्रधान हो जाएगा,तब इसे हिंदूस्तान कहना ही ग़लत होगा।"

व्यथित होकर सुचरिता ने कहा, "बाबा, क्या इसका निवारण करना हम सबका कर्तव्य नहीं है? हम लोग भी हिंदू-समाज का परित्याग करके उसे और क्षीण कर दें? जबकि यही तो प्राणों की समूची शक्ति से उसे पकड़े रहने का समय है।

सुचरिता की पीठ स्नेह से थपथपाते हुए परेशबाबू ने कहा, "हम लोग क्या इच्छा मात्र से ही किसी को पकड़कर जिलाए रख सकते हैं? रक्षा पाने का एक जगद्व्यापी नियम है- जो भी उस स्वाभाविक नियम को छोड़ता है उसे सभी स्वभाविक छोड़ देते हैं। हिंदू-समाज मनुष्य का अपमान करता है, निषेध करता है, इसलिए आजकल के समय में उसके लिए आत्मरक्षा कर सकना प्रतिदिन कठिनतर होता जाता है, क्योंकि अब और ओट में नहीं रह सकता- अब दुनिया में चारों ओर मार्ग खुद गए हैं, चारों ओर से लोग उस पर बढ़े आ रहे हैं- अब शास्त्र-संहिता के बाँध बनाकर या दीवारें खड़ी करके वह अपने को किसी प्रकार भी दूसरों के संपर्क से अछूता नहीं रख सकता। अब भी अगर हिंदू-समाज अपने भीतर ग्रहण करने की शक्ति नहीं जगाता और क्षय

को ही प्रश्रय देता चलता है, तो बाहर के लोगों का यह अबाध संपर्क उसके लिए एक सांघातिक चोट साबित होगा।"

दु:खी स्वर में सुचरिता ने कहा, "मैं यह सब ज़रा नहीं समझती, लेकिन अगर यही सच हो कि आज सभी उसे छोड़ रहे हैं, तो ऐसे मौके पर मैं तो उसे नहीं छोड़ूंगी। हम इसके दुर्दिन की संतान हैं, इसलिए हमें तो और भी उसके सिरहाने खड़े रहना होगा!"

परेश बाबू ने कहा, "बेटी, तुम्हारे मन में जो भाव जाग उठा है उसके खिलाफ मैं कोई बात नहीं कहूँगा। तुम उपासना करके, मन को स्थिर करके, तुम्हारे भीतर जो सत्य है, श्रेय का जो आदर्श है उसी से मिलाकर सारी बात पर विचार करके देखो, अपने आप तुम्हारे सामने सब बातें धीरे-धीरे स्पष्ट होती जाएँगी। जो सबसे बड़े हैं उन्हें देश की या किसी मनुष्य की तुलना में छोटा न करो- वैसा करने में न तुम्हारा मंगल है, न देश का। मैं तो ऐसा ही मानकर एकांत-भाव से उन्हीं के सामने आत्म-समर्पण करना चाहता हूँ, इसी से मैं देश के और प्रत्येक व्यक्ति के प्रति सहज ही सच्चा हो सकूँगा।"

एक आदमी ने आकर इसी समय एक चिट्ठी परेशबाबू के हाथ में दी। परेशबाबू बोले, "चश्मा नहीं है, रोशनी भी कम हो गई है- तुम्हीं पढ़कर सुना दो ज़रा।"

सुचरिता ने चिट्ठी पढ़कर सुना दी। चिट्ठी ब्रह्म-समाज की एक कमेटी की ओर से आई थी, नीचे बहुत से ब्रह्म लोगों के हस्ताक्षर थे। पत्र का भाव यही था कि परेशबाबू ने अब्रह्म-पध्दति से अपनी कन्या के विवाह की अनुमति दे दी है और उस विवाह में स्वयं भी योग देने को तैयार हुए हैं, ऐसी हालत में ब्रह्म-समाज उन्हें अपनी सदस्य-श्रेणी में किसी प्रकार नहीं रख सकता। उन्हें अपनी ओर से यदि कुछ कहना हो तो आगामी रविवार से पहले उनका पत्र कमेटी के पास पहुँच जाना चाहिए- उस दिन विचार करके बहुमत से अंतिम निर्णय कर लिया जाएगा।

चिट्ठी लेकर परेशबाबू ने जेब में रख ली। सुचरिता उनका दाहिना हाथ अपने हाथ में लेकर चुपचाप उनके साथ-साथ टहलने लगी। धीरे-धीरे सघन घनी हो गई और बगीचे के दाहिनी ओर गली में एक बत्ती जल गई। सुचरिता ने मृदु स्वर में कहा, "बाबा, तुम्हारी उपासना का समय हो गया, आज मैं तुम्हारे साथ उपासना पर बैठूँगी।"

यह कहती हुई सुचरिता उन्हें हाथ पकड़े-पकड़े उपासना के कमरे में ले गई, जहाँ आसन पहले से बिछा हुआ था और एक मोमबत्ती जल रही थी। आज परेशबाबू बहुत देर तक एकांत उपासना करते रहे। अंत में एक छोटी प्रार्थना के बाद वह उठ खड़े हुए।

उहोंने बाहर आते ही देखा, उपासना-गृह की देहरी के पास ही ललिता और विनय चुपचाप बैठे हैं। उन्हें देखते ही दोनों ने प्रणाम किया और उनकी चरण रज ली। परेशबाबू ने उनके सिर पर हाथ रखकर मन-ही-मन आशीर्वाद दिया। सुचरिता से बोले, "बेटी, कल मैं तुम्हारे घर आऊँगा, आज अपना काम पूरा कर लूँ।" यह कहते हुए वह अपने कमरे में चले गए। सुचरिता की आँखों से उस समय आँसू झर रहे थे। निस्तब्ध प्रतिमा-सी वह चुपचाप बरामदे के अंधकार में खड़ी रही। ललिता और विनय भी बहुत देर तक कुछ नहीं बोले। जब सुचरिता जाने लगी तब विनय ने उसके सामने आकर मृदु स्वर में कहा, "दीदी, तुम हमें आशीर्वाद नहीं दोगी?"

विनय के यह कते-कहते उसके साथ ललिता ने भी सुचरिता को प्रणाम किया। रुँधे हुए गले से सुचरिता ने जो कुछ कहा उसे केवल अंतर्यामी ही सुन सके।

परेशबाबू ने अपने कमरे में आकर ब्रह्म-समाज की कमेटी को पत्र लिखा। उसमें उन्होंने लिखा-

"ललिता का विवाह मुझको ही संपन्न करना होगा। इसके लिए आप मेरा बहिष्कार कर दें तो आपका यह निर्णय अन्यायपूर्ण नहीं होगा। इस समय ईश्वरसे मेरी एकमात्र यही प्रार्थना है कि मुझे सभी समाजों के आश्रय से बाहर निकालकर केवल अपने चरणों में स्थान दें।"

परेशबाबू से जो कुछ सुचरिता ने सुना था वह गोरा को बताने के लिए उसका मन उत्सुक हो उठा। गोरा जिस भारतवर्ष की ओर उसकी दृष्टि को खींचना चाहते थे, जिसकी ओर उसके मन को प्रबल प्रेम से आकृष्ट करना चाहते थे, इतने दिन बाद वह भारतवर्ष अब काल के हाथों में पड़ गया है और क्षय के मुँह में जा रहा है, यह बात क्या गोरा ने नहीं सोची? अब तक भारतवर्ष अपनी अभ्यांतर व्यवस्था के बल पर ही बचा रहा है-भारतवासी को इसके लिए सतर्क होकर प्रयत्न नहीं करना पड़ा। किंतु अब क्या यों निश्चिंत रहने का समय है? आज क्या पहले की तरह केवल पुरातन व्यवस्था के भरोसे बैठे रहा जा सकता है?

सुचरिता सोचने लगी- उसमें मेरा भी तो कहीं कुछ कर्तव्य है- वह कर्तव्य क्या है? गोरा को चाहिए था कि इसी क्षण उसके सामने आकर उसे आदेश देता, उसे मार्ग दखाता। मन-ही-मन सुचरिता ने कहा- यदि मेरी सारी अड़चनों और अज्ञान से मेरा उध्दार करके मुझे मेरे सही स्थान पर खड़ा कर देते तो क्या क्षुद्र लोक-लज्जा और निंदा-अपवाद से होने वाली कमी भी पूरी न हो जाती? उसका मन आत्म्-गौरव से

भर उठा। उसने स्वयं से पूछा- गोरा ने क्यों उसकी परीक्षा नहीं ली, क्यों उसे कोई असाध्य काम नहीं सौंपा? गोरा के गुट के इतने सब पुरुषों में कौन ऐसा है जो सुचरिता की तरह यों अनायास अपना सब-कुछ उत्सर्ग कर दे सके? आत्म-त्याग की ऐसी आकांक्षा और शक्ति की कोई उपयोगिता गोरा ने नहीं देखी! उसे लोक-लज्जा की बेड़ियों में बँधी हुई कर्महीनता में फेंक देने से क्या देश की ज़रा भी हानि नहीं होगी? सुचरिता ने इस अवज्ञा को अस्वीकार करके दूर हटा दिया। उसने कहा-यह हो ही नहीं सकता कि वह मुझ ऐसे छोड़ दें। मेरे पास उन्हें आना ही होगा, मुझे खोजना ही होगा, सब लज्जा और संकोच उन्हें छोड़ना ही होगा- वह चाहे जितने बड़े चाहे जितने शक्तिमान हों, उन्हें मेरी ज़रूरत है, उन्होंने यह बात एक दिन अपने मुँह से कही थी-आज लोगों की थोड़ी-सी बकवास के कारण यह बात वह कैसे भुला सकते हैं?

दौड़ते हुए आकर सतीश ने सुचरिता से सटकर खड़े होते हुए कहा, "दीदी!"

उसके गले में बाँह डालते हुए सुचरिता ने पूछा, "क्यों भाई, बक्त्यार!"

सतीश ने कहा, "सोमवार को ललिता दीदी का ब्याह है कुछ-एक दिन मैं विनय बाबू के घर जाकर रहूँगा। उन्होंने मुझे बुलाया है।"

सुचरिता ने पूछा, "मौसी से कहा है?"

सतीश ने कहा, "मौसी से कहा तो वह बिगड़कर बोली, मैं यह सब कुछ नहीं जानती, जा अपनी दीदी से पूछ, वह जो ठीक समझेंगी वही होगा। दीदी, तुम इंकार मत करना! मेरी पढ़ाई का वहाँ ज़रा हर्ज नहीं होगा, मैं रोज़ पढँगा, विनय बाबू बता देंगे।"

सुचरिता ने पूछा, "काम-काज वाले घर में जाकर तू सबको तंग करेगा!"

छटपटाकर सतीश ने कहा, "नहीं दीदी, मैं ज़रा भी तंग नहीं करूँगा।"

सुचरिता ने फिर पूछा, "अपने कुत्ते खुदे को भी वहाँ ले जाएगा क्या?"

सतीश ने कहा, "हाँ, उसको भी ले जाना होगा, विनय बाबू ने ख़ास तौर से कहा है। उसके नाम अलग से लाल कागज़ पर छपा हुआ निमंत्रण-पत्र आया है-उसमें लिखा है, उसे सपरिवार जल-पान करने आना होगा।"

सुचरिता ने पूछा, "उसका परिवार कौन है?"

फौरन सतीश ने कहा, "क्यों, विनय बाबू ने तो कहा है, मैं हूँ। उन्होंने वह आर्गन भी लेते आने को कहा है, वह मुझे दे देना- मैं तोड़ूँगा नहीं।"

सुचरिता ने कहा, "तोड़ दे तो छुट्टी हो! लेकिन अब समझ में आया- अपने विवाह में आर्गन बजाने के लिए ही तेरे बंधु ने तुझे बुलाया है! मालूम होता है, शहनाई वालों के पैसे बचाना ही उनका मतलब है!"

सुचरिता ने कहा, "दिन-भर उपवास करना होता है।"

इस पर सतीश ने बिल्कुल विश्वास नहीं किया। तब सुचरिता ने सतीश को गोद में खींचते हुए पूछा, "अच्छा बक्त्यार, बड़ा होकर तू क्या बनेगा,बता तो?"

सतीश के मन में इसका जवाब तैयार था। उसकी कक्षा के शिक्षक ही उसके लिए अबाध सत्ता और असाधारण पांडित्य के आदर्श थे- उसने पहले से ही मन-ही-मन तय कर रखा था कि बड़ा होकर वह मास्टर मोशाय बनेगा।

सुचरिता ने कहा, "भाई, बहुत काम करने को है। दोनों भाई-बहन का काम हम दोनों मिलकर करेंगे- क्या राय है, सतीश! अपने देश को प्राण देकर भी बड़ा बनाना होगा। नहीं, बना तो खैर क्या बनाना होगा-हमारे देश-जैसा बड़ा और कौन है! हमें अपने प्राणों को ही बड़ा बाना होगा। जानता है- समझा कुछ?"

'नहीं समझा,' सतीश यह बात स्वीकार करने वाला नहीं है। उसने ज़ोर देकर कहा, "हाँ!"

सुचरिता ने कहा, "हमारा देश, हमारी जाति कितनी बड़ी है, जानता है? यह तुझे मैं कैसे समझाऊँ? हमारा देश एक आश्चर्य है। कितने हज़ारों वर्षों से विधाता का आयोजन इस देश को दुनिया में सबसे ऊपर प्रतिष्ठित करने का रहा है, देश-विदेश के कितने लोंगों ने आकर इस आयोजन में योग दिया है, देश में कितने महापुरुषों ने जन्म लिया है, कितने महायुध्द हुए हैं, कितने महाकाव्य यहाँ उच्चरित हुए हैं, कितनी महातपस्या यहाँ हुई हैं, इस देश ने कितनी दिशाओं से धर्म को देखा है और जीवन की समस्या के कितने समाधन इसने प्रस्तुत किए हैं! ऐसा है हमारा यह भारतवर्ष! तू इसे बहुत महान मानना भाई- कभी भूलकर भी इसकी अवज्ञा मत करना। आज तुझे जो कह रही हूँ वह एक दिन तुझे समझना ही होगा-हालाँकि आज भी मैं यह नहीं सोचती कि तू कुछ भी नहीं समझता, किंतु यह बात तुझे याद रखनी

होगी कि तू एक बहुत बड़े देश में जन्मा है, और सच्चे हृदय से तुझे इस देश पर श्रध्दा करनी है और अपना सारा जीवन लगाकर इस महान देश का काम करना है।"

थोड़ी देर चुप रहकर सतीश बोला, "दीदी, तुम क्या करोगी?"

सुचरिता ने कहा, "मैं भी यही करूँगी। तू मेरी मदद करेगा न?"

फौरन सतीश ने छाती फुलाकर कहा, "हाँ, करूँगा!"

जो बातें सुचरिता के मन में उमड़ रही थीं उन्हें सुनने वाला घर में तो कोई नहीं, इसीलिए अपने इस छोटे भाई को सम्मुख पाकर उसी पर उसका सारा संचित आवेग उमड़ पड़ा। उसने जिस भाषा में और जो कुछ कहा वह एक बालक के लिए उपयुक्त तो नहीं था। लेकिन उससे सुचरिता संकुचित नहीं हुई। अपने मन की उस उत्तेजित स्थिति में उसने यह मान लिया था कि जो उसने स्वयं समझा है उसे पूरी तरह कह डालने से ही छोटे-बड़े सब अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार जैसे-तैसे उसकी बात समझ ही लेंगे। उसे दूसरे के समझने लायक बनाने के लिए उसमें से कुछ भी रोक रखने से उसकी सच्चाई विकृत हो जाएगी।

सतीश की कल्पना गतिशील हो उठी। वह बोला, "बड़े होकर मेरे पास जब बहुत-बहुत पैसा होगा तब...."

सुचरिता ने कहा, "नहीं-नहीं-नहीं! पैसे की बात मत कर! बख्त्यार, हम दोनों को पैसे की आवश्यकता नहीं है- जो काम हमें करना है उसके लिए भक्ति चाहिए, प्राण चाहिए।"

इसी समय आनंदमई आ पहुँचीं। उन्हें देखकर सुचरिता की धमनियों का रक्त मानो नाच उठा। उसने आनंदमई को प्रणाम किया। सतीश को ठीक से प्रणाम करना नहीं आता था, झेंपते हुए किसी तरह उसने काम निबटा लिया।

सतीश को गोद में खींचकर आनंदमई ने उसका माथा चूमा और सुचरिता से कहा, "तुम्हारे साथ कुछ सलाह करने आई हूँ, बेटी- तुम्हारे सिवा और कोई दीखता नहीं। विनय का कहना है कि ब्याह उसके घर में ही होगा, लेकिन मैंने कहा, वह किसी तरह नहीं हो सकेगा- वह क्या ऐसा बड़ा नवाब है कि हमारे घर की लड़की यों सीधी उसके घर आकर उससे ब्याह करेगी? वह नहीं होगा। मैंने एक और घर तय किया है, वह

वह तुम्हारे घर से अधिक दूर नहीं है। मैं अभी वहीं से आ रही हूँ। परेशबाबू को कहकर तुम राज़ी कर लेना!"

सुचरिता ने कहा, "बाबा राज़ी हो जाएँगे।"

आनंदमई बोलीं, "उसके बाद बेटी तुम्हें भी वहाँ आना होगा। इसी सोमवार को तो ब्याह ही है- इन्हीं दो-चार दिनों में हमें वहाँ सब कुछ ठीक-ठाक कर लेना होगा। समय अब अधिक नहीं है। मैं अकेली ही सब कर सकती हूँ, लेकिन तुम्हारे शामिल न होने से विनय को बड़ा दु:ख होगा। वह अपने मुँह से तुमसे नहीं कह पा रहा है, यहाँ तक कि मेरे सामने भी उसने तुम्हारा नाम नहीं लिया- पर इसी से मैं समझ सकती हूँ कि इस बात को लेकर उसके मन में बड़ा क्लेश है। तुम्हारे अलग रहने से नहीं चलेगा बेटी, ललिता को भी उससे बड़ा दु:ख होगा।"

कुछ विस्मित होकर सुचरिता ने पूछा, "माँ, तुम क्या इस ब्याह में योग दे सकोगी?"

आनंदमई ने कहा, "यह क्या कह रही हो, सुचरिता! योग देना कैसा? मैं क्या कोई गैर हूँ कि सिर्फ योग देने जाऊँगी? यह तो मेरे विनय का ब्याह है। यहाँ तो मुझको ही सब करना होगा। लेकिन मैंने विनय से साफ कह दिया है कि इस ब्याह में मैं उसकी कोई नहीं हूँ, मैं कन्या-पक्ष की हूँ। वह ललिता से ब्याह करने मेरे घर आ रहा है।"

इस शुभ कर्म में माँ के रहते ही ललिता को उसकी माँ ने छोड़ दिया है, इससे आनंदमई का हृदय उसके प्रति करुणा से भर उठा था। इस कारण वह इस बात की पूरी कोशिश कर रही थी कि विवाह के समय अनादर या अवज्ञा का कोई चिह्न न दीखे। उनका यही संकल्प था कि वही ललिता की माँ का स्थान लेकर अपने हाथों से उसे सजाएँगी, वर के स्वागत की व्यवस्था करेंगी- निमंत्रित किए गए दो-चार जन यदि आएं तो उनके स्वागत-सत्कार में कोई कमी नहीं होने देंगी, और उस नए घर को ऐसे सजा देंगी जिससे आते ही वह ललिता को एक बसे हुए घर-सा लगे।

सुचरिता ने पूछा, "तुम्हें लेकर इस सबसे कोई हंगामा नहीं उठ खड़ा होगा?"

महिम ने घर-घर जो हाय-तोबा मचा रखी थी उसको याद करते हुए आनंदमई ने कहा, "हो भी सकता है, पर उससे क्या? थोड़ा-बहुत हंगामा तो होता ही रहता है, चुपचाप सह लेने से अपने-आप थोड़े दिन में शांत भी हो जाता है।"

गोरा विवाह में शामिल नहीं हो रहा है, यह आनंदमई जानती थी। सुचरिता यह जानने के लिए उत्सुक थी कि उसने आनंदमई को रोकने की भी चेष्टा की या नहीं, लेकिन उनसे साफ-साफ नहीं पूछ सकी। आनंदमई ने गोरा का नाम तक नहीं लिया।

हरिमोहिनी को ख़बर मिल गई थी। किंतु वह आराम से हाथ का काम पूरा करके ही कमरे में आईं। आते ही बोलीं, "दीदी, अच्छी तो हो? आईं नहीं, खबर भी नहीं ली।"

अभियोग का उत्तर न देकर आनंदमई ने सीधे कहा, "तुम्हारी भानजी को लेने आई हूँ।"

उन्होंने अपना उद्देश्य स्पष्ट बता दिया। अप्रसन्न चेहरा लिए हरिमोहिनी थोड़ी देर चुप रहीं, फिर बोलीं, "मैं तो इसमें नहीं पड़ सकती।"

आनंदमई ने कहा, "नहीं बहन, मैं तुम्हें आने को नहीं कहती। सुचरिता के लिए तुम फिक्र न करो- मैं तो वहाँ उसके साथ ही रहूँगी।"

हरिमोहिनी ने कहा, "तो मैं स्पष्ट ही कहूँ। राधारानी तो सबसे कहती हैं कि वह हिंदू हैं, अब उनकी मति-गति भी हिंदू धर्म की ओर पलट रही है। तो अब अगर उन्हें हिंदू-समाज में आना है तो सावधान होकर रहना होगा। यों भी तो कितनी बातें उठेंगी, उन्हें तो खैर किसी तरह मैं सँभाल लूँगी, लेकिन अब से कुछ दिन तक इन्हें बहुत सँभलकर पाँव रखना चाहिए। पहले ही लोग पूछते हैं, इतनी उम्र हो गई, इसका ब्याह क्यों नहीं हुआ- उसे किसी प्रकार टाल दिया जा सकता है- ऐसी बात तो है नहीं कि प्रयत्न करने से अच्छा पात्र नहीं मल सकता- लेकिन वह अगर फिर अपना पुराना रवैय्या अपनाएगी तो मैं कहाँ-कहाँ सँभालूँगी, तुम्हीं बताओ। तुम तो स्वयं हिंदू घर की लड़की हो, तुम तो सब समझती हो, तुम ही किस मुँह से ऐसी बात कह सकती हो भला? तुम्हारी अपनी लड़की होती तो क्या उसे इस विवाह में भेज सकतीं, तुम्हें भी तो सोचना पड़ता कि लड़की का ब्याह कैसे होगा?"

विस्मित होकर आनंदमई ने सुचरिता की ओर देखा। उसका चेहरा ज़ोर से तमतमा उठा। आनंदमई ने कहा, "मैं कोई ज़ोर डालना नहीं चाहती। सुचरिता को अगर ऐतराज हो तो मैं.... "

हरिमोहिनी बोल उठीं, "तुम लोगों की बात मुझे तो कुछ भी समझ नहीं आती। तुम्हारा ही लड़का तो उन्हें हिंदू-मत की ओर ले जाता रहा है,अब तुम एकाएक कौन-से आसमान से टपक पड़ीं?"

कहाँ गईं वह हरिमोहिनी, जो परेशबाबू के घर में सदा अपराधिनी-सी सकुचाई रहती थी, किसी को ज़रा भी अनुकूल पाकर जो बड़े आग्रह से उसी का अवलंबन करने लगती थीं? आज वह अपने अधिकार की रक्षा के लिए बाघिन-सी उठ खड़ी हुई थी। यह शंका उन्हें हमेशा चौकन्ना किए रहती थी कि उनकी सुचरिता को उनसे फोड़ लेने के लिए चारों ओर अनेक विरोध शक्तियाँ काम कर रही हैं। कौन पक्ष में है, कौन विपक्ष में, यही वह नहीं समझ पा रही थीं और इसी कारण उनका मन आश्वस्त नहीं होता था। पहले सारे संशय को शून्य देखकर उन्होंने व्याकुल मन से जिस देवता का आश्रय लिया था उसकी पूजा में भी उनका मन अब स्थिर नहीं हो पाता था। एक दिन उनकी वृत्ति घोर संसारी थी, जब दारुण शोक से उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ था तब उन्होंने सोचा भी नहीं था कि फिर किसी दिन उनमें रुपए-पैसे, घर-बार, आत्मीय-परिजन के लिए ज़रा भी आसक्ति हो सकेगी। लेकिन आज हृदय का घाव थोड़ा-सा भरते ही फिर उसने सम्मुख आकर उनके मन को खींचना आरंभ कर दिया था-एक बार फिर सारी आशाएँ-आकांक्षाएँ अपनी पुरानी भूख लेकर पहले-जैसी जाग उठी थीं जिनका कभी वह त्याग कर आई थी। उसी की ओर लौटने का वेग इतना उग्र हो उठा था कि वह अपने गृहस्थी के दिनों से भी ज्यादा बेचैन हो उठी थीं। इतने थोड़े दिनों में ही हरिमोहिनी का चेहरा, ऑखें, भाव-भंगी बातचीत और व्यवहार में ऐसा अकल्पनीय परिवर्तन देखकर आनंदमई एकाएक चकित हो उठीं और उनका स्नेह पूर्ण कोमल हृदय सुचरिता के लिए चिंतित हो उठा। यदि वह जानतीं कि भीतर-ही-भीतर कोई संकट छिपा हुआ है तो वह सुचरिता को बुलाने कभी न आतीं। लेकिन अब सुचरिता को कैसे चोट से बचाया जा सकता है यही उनके लिए एक समस्या हो गई।

गोरा को लक्ष्य करके हरिमोहिनी ने जो बात कही उस पर सुचरिता सिर झुकाए चुपचाप उठकर कमरे से चली गई।

आनंदमई ने कहा, "डरो मत, बहन! मैं पहले नहीं जानती थी। खैर, और उस पर ज़ोर नहीं डालूँगी। तुम भी उसे और कुछ मत कहो! वह अब तक एक ढंग से रहती आई है, अब एकाएक उस पर अधिक दबाव डालने से वह नहीं सह सकेगी।"

हरिमोहिनी ने कहा, "यह क्या मैं समझती- इतनी उम्र क्या यों ही हो गई। वह तुम्हारे सामने ही कहे न? क्या मैंने उसे कभी कोई कष्ट दिया है। जो वह चाहती है वही तो करती है, मैं कभी कोई बात नहीं कहती। मैं तो यही कहती हूँ, भगवान उसे सलामत

रखें, मेरे लिए वही बहुत है। मेरा जैसा भाग्य है, कब क्या हो जाएगा, इसी के भय से मुझे तो नींद नहीं आती।"

आनंदमई के जाने के समय अपने कमरे से निकलकर सुचरिता ने उन्हें प्रणाम किया। आनंदमई ने करुणा-भरे स्नेह से उसके सिर पर हाथ रखते हुए कहा, "मैं फिर आऊँगी बेटी, तुम्हें सब ख़बर दे जाऊँगी- कोई विघ्न नहीं होगा, भगवान के आर्शीवाद से सब शुभ ही संपन्न होगा।"

सुचरिता कुछ नहीं बोली।

दूसरे दिन सबेरे लछमिया को साथ लेकर आनंदमई ने नए घर की बहुत दिनों की जमी हुई धूल झाड़-पोंछकर धो डालने के लिए ज़ोरों से पानी बहा रही थीं तब एकाएक सुचरिता आ पहुँची। जल्छी से आनंदमई ने झाड़ू फेंककर उसे छाती से लगा लिया।

इसके बाद धोने-पोंछने, सामान इधर-उधर हटाने और सजाने का काम ज़ोरों से होने लगा। खर्च के लिए परेशबाबू ने सुचरिता को यथोचित रुपया दे दिया था-इसी पूँजी को ध्यान में रखकर दोनों-बार-बार सूचियाँ बनाकर उसमें काट-छाँट करने लग गईं।

थोड़ी देर बाद ही स्वयं परेशबाबू ललिता को साथ लेकर आ पहुँचे। ललिता के लिए अपना घर असह्य हो उठा। कोई उससे बात करने का साहस नहीं करता था, किंतु सबकी चुप्पी ही रह-रहकर उसे पीड़ा पहुँचाती थी। अंत में वरदासुंदरी के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए जब उनके बंधु-बांधवों के झुंड घर पर आने लगे, तब परेशबबू ने ललिता को वहाँ से हटा ले जाना ही उचित समझा। जाते समय ललिता वरदासुंदरी को प्रणाम करने गई, वह मुँह फेकरकर बैठी रहीं ओर उसके चले जाने पर ऑंसू बहाने लगीं। ललिता के विवाह के बारे में लावण्य और लीला भी मन-ही-मन काफी उत्सुक थीं- उन्हें किसी तरह अनुमति मिल सकती तो क्षण-भर भी देरी किए बिना वे दौड़ी आतीं। लेकिन ललिता जब विदा लेकर जाने लगी तब दोनों ब्रह्म-परिवार का कर्तव्य स्मरण करके गंभीर चेहरा बनाए रहीं। डयोढ़ी पर ललिता ने क्षण-भर के लिए सुधीर को भी देखा, लेकिन उसके पीछे ही उनके समाज के कुछ बुजुर्ग भी थे, इसलिए वह उससे कोई बात न कर पाई। गाड़ी पर सवार होकर उसने देखा, सीट पर एक कोने में काग़ज़ में लिपटा हुआ कुछ रखा था। उसने खोलकर देखा, जर्मन सिल्वर का एक फूलदान था, जिस पर अंग्रेज़ी में खुदा हुआ था 'आनंदित दंपति को भगवान आशीर्वाद दें' और एक कार्ड पर सुधीर के नाम पर पहला अक्षर-मात्र लिखा उसके साथ रखा हुआ था। ललिता ने मन कड़ा करके प्रण किया था

कि आँखों में आँसू नहीं आने देगी, किंतु विदा के क्षण में अपने बाल्य-बंधु का यह एकमात्र स्नेहोपहार हाथ में लिए-लिए उसकी आँखों से झर-झर आँसू झरने लगे। परेशबाबू आँखें मूँदकर चुपचाप बैठे रहे।

"आओ, आओ बेटी", कहती हुई आनंदमई ललिता को दोनों हाथों से पकड़कर कमरे में खींच लाईं, जैसे अब तक वे उसी की राह देख रही थीं।

सुचरिता को बुलाकर परेशबाबू ने कहा, "ललिता हमारे घर से एकबारगी विदा लेकर आई है।" उनका स्वर काँप उठा।

परेशबाबू का हाथ पकड़ते हुए सुचरिता ने कहा, "बाबा, यहाँ उसे स्नेह की कोई कमी नहीं होगी।" जब परेशबाबू जाने को खड़े हुए तब आनंदमई ने माथे पर आँचल खींचकर उनके सामने आकर उन्हें नमस्कार किया। हड़बड़ाकर परेशबाबू ने प्रतिनमस्कार किया तो आनंदमई ने कहा, "ललिता की ओर से आप किसी प्रकार की फिक्र न करें। जिसके हाथ उसे आप सौंप रहे हैं उससे उसे कभी कोई कष्ट नहीं होगा। और भगवान ने इतने दिनों बाद मेरी भी एक मनोकामना पूरी कर दी- मेरी कोई बेटी नहीं थी, सो मुझे मिल गई। विनय की बहू आने से मेरी कन्या की कमी दूर हो जाएगी, इसकी आस लगाए मैं बहुत दिनों से बैठी थी- भगवान ने मेरी यह कामना जितनी देर से पूरी की उतनी ही अच्छी बेटी मुझे दी, और ऐसे अद्‌भुत ढंग से दी कि मैं कभी सोच भी नहीं सकती थी कि मेरा इतना बड़ा सौभाग्य होगा।"

ललिता के विवाह की हलचक आरंभ होने के समय से परेशबाबू के मन को पहली बार संसार में कहीं एक किनारा दीखा और आत्मिक सांत्वना मिली।

जेल से आने के बाद सारे दिन गोरा के पास इतनी भीड़ लगी रहती थी कि उनकी स्तुति, प्रशंसा और चर्चा-आलोचना की अजस्र धारा में गोरा का दम घुटने लगा और उसके लिए घर में रहना मुश्किल हो गयां इसलिए गोरा ने फिर पहले की तरह गाँवों का भ्रमण आरंभ कर दिया।

कुछ खाकर सबेरे ही वह घर से निकल जाता और देर रात को लौटता। रेल पर सवार होकर कलकत्ता के आस-पास के किसी स्टेशन पर उतरकर वह देहात में घूमता रहता। वहाँ भी कुम्हार, तेली-केवट आदि मुहल्लों में आतिथ्य ग्रहण करता। यह विशालकाय गौर-वर्ण ब्राह्मण क्यों उनके घरों में यों भटकता है, उनका दु:ख-सुख पूछता है, यह उनकी समझ में नहीं आता था, यहाँ तक कि उनके मन में तरह-तरह के संदेह भी उठते थे। लेकिन गोरा उनके सारे संकोच-संदेह की उपेक्षा करके उनके

बीच विचरण करता। बीच-बीच में कुछ खरी-खोटी भी उसे सुनना पड़ जातीं, लेकिन उससे भी वह हतोत्साहित न होता।

ज्यों-ज्यों इन लोगों के भीतर वह प्रवेश पाता गया त्यों-त्यों एक ही बात उनके मन में चक्कर काटने लगी। उसने देखा, इन देहातों में समाज के बंधन पढ़े-लिखे भद्र समाज से कहीं अधिक सख्त हैं। हर घर के खान-पान, उठने-बैठने और हर काम-काज पर समाज की निरंकुश दृष्टि जैसे दिन-रात निगरानी रखती थीं।

लोकाचार पर हर किसी का सहज विश्वास था और उसके बारे में किसी के मन में कभी कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। लेकिन समाज के बंधन और आचार-निष्ठा से किसी को कर्म-क्षेत्र में कोई योग मिलता भी नहीं दीख पड़ता था। इन लोगों जैसा डरपोक, असहाय, अपना भला-बुरा सोचने में असमर्थ कोई और जीव भी दुनिया में कहीं हो सकता, है, इसमें गोरा को संदेह होता था। ये लोग भी दुनिया में कहीं हो सकते हैं,इसमें गोरा को संदेह होता था। ये लोग जैसे लकीर पीटते हुए चलने के अलावा कोई मंगल ही नहीं पहचानते थे, न समझाने पर समझते ही थे। उनके लिए दंड और वर्गवाद द्वारा बँधे रहना ही सबसे बड़ी बात थी, क्या-क्या उन्हें नहीं करना है और करने पर उसके लिए कैसा दंड मिलेगा, इसी के विचार ने जैसे उनकी प्रकृति को सिर से पैर तक एक जाल में फाँस रखा था- लेकिन यह जाल राजा के बंधन का नहीं था; बल्कि महाजन का बंधन था, ऋण का बंधन था। इन लोगों में ऐसा कोई सूत्र नहीं था जो सुख-दु:ख और विपत्ति में उन्हें कंधे-से-कंधा मिलाकर खड़ा कर सके। गोरा यह सुने बिना न रह सका कि इसी आचार के अस्त्र से मानव, मानव का रक्त चूसकर निष्ठुरता से उसका सब कुछ छीने ले रहा था। उसने बार-बार लक्ष्य किया कि सामाजिक कर्म में कोई किसी पर ज़रा भी दया नहीं करता।

एक व्यक्ति का बाप बहुत लंबी बीमारी से कष्ट भोग रहा था, बाप के इलाज और पत्थ्य की व्यवस्था में बेचारे का सब कुछ लुट चुका था, पर इसके लिए उसकी किसी ने कोई मदद नहीं की- उलटे गाँव के लोगों ने निर्णय किया कि बाप की लंबी बीमारी किसी अज्ञान पाप का फल थी जिसके लिए बेटे को प्रायश्चित करना होगा। उस अभागे की दरिद्रता और बेचारगी किसी से छिपी न थी, किंतु फिर भी उसे क्षमा न मिल सकी। सभी कर्मों में यही हालत थी। जैसे गाँव के लिए डकैती की अपेक्षा पुलिस की जाँच-पड़ताल अधिक बड़ी दुर्घटना थी, वैसे ही माँ-बाप की मृत्यु की अपेक्षा माँ-बाप श्राध्द ही संतान के लिए अधिक बड़ा दुर्भाग्य था। आय अथवा सामर्थ्य की कमी की बात सुनने को कोई राज़ी नहीं था- जैसे भी हो समाज की हृदयहीन माँग

अक्षरश: पूरी करनी होगी। विवाह के अवसर पर लड़की के पिता का भार दु:सह हो उठे, उसके लिए वर-पक्ष द्वारा हर तरह की कुचेष्टा की जाती थी और अभागे को कहीं से मदद नहीं मिलती थी। गोरा ने देखा,यह समाज मनुष्य को ज़रूरत पड़ने पर मदद नहीं देता था, विपत्ति आने पर सहारा नहीं देता था, सिर्फ दंड देकर उसे नीचा दिखाकर और दरिद्र ही करता था।

भद्र समाज के बीच रहते हुए गोरा इस बात को भूल गया था, क्योंकि सबके मंगल के लिए एक होकर खड़े होने की प्रेरणा उस समाज में बाहर से मिलती रहती थी। इस समाज में एक जगह मिल सकने के लिए तरह तरह के उद्योग होते दीखते रहते थे। इनमें विचारणीय बात यही थी कि ये सारे उद्योग कहीं इसीलिए विफल न हो जाएँ कि सभी-एक दूसरे की नकल कर रहे ।

लेकिन देहात में, बाहर की शक्तियों का दबाव जहाँ उतना नहीं पड़ रहा था, वहाँ की निश्चेष्टता में ही गोरा ने अपने देश की सबसे बड़ी दुर्बलता का बिल्कुल नग्न रूप देखा। जो धर्म सेवा के रूप में, प्रेम के रूप में, करुणा के रूप में, आत्म-त्याग के रूप में और मानव के प्रति श्रध्दा के रूप में सबको शक्ति देता है, प्राण देता है, सबका मंगल करता है, वह वहाँ कहीं नहीं दीखता था- और जो आचार केवल रेखाएँ खींचता है, विभाजन करता है,कष्ट देता है, बुध्दि की भी कोई परवाह नहीं करता और प्रेम को भी दूर ही रखता है, वही चलते-फिरते, उठते-बैठते, हर किसी के हर काम में अड़ंगा लगाता रहता है। मूर्खता-भरी रूढ़िवादिता के भयानक दुष्परिणाम गोरा को इन देहातों में काफी स्पष्ट और विभिन्न रूपों में दीखने लगे। वह देखने लगा कि मनुष्य के स्वास्थ्य, ज्ञान, धर्म-बुध्दि कर्म, सभी पर इतनी ओर से इतने प्रकार का आक्रमण हो रहा है कि उसके लिए अपने को भावुकता के इंद्रजाल में भुलाए रखना असंभव हो गया है।

आरंभ में ही गोरा ने देखा कि गाँव की नीच जातियों में स्त्रियों की संख्या की कमी के कारण या अन्य किसी भी कारण से एक बहुत बड़ी रकम देकर ही विवाह के लिए लड़की मिलती थी। अनेक पुरुषों को आजीवन और अनेकों को बड़ी उम्र तक अविवाहित रह जाना पड़ता था। उधर विधवा-विवाह का कड़ा निषेध था। इससे समाज का स्वास्थ्य घर-घर में दूषित हो रहा था और इससे होने वाली बदनामी और अनिष्ट को हर कोई महसूस भी करता था। सभी हमेशा के लिए इस बुराई को सहते चलने के लिए विवश थे, इसका इलाज या प्रतिकार करने की कोशिश कोई नहीं कर रहा था। जो गोरा शिक्षित समाज में आचार के बंधन को कहीं शिथिल होने देना नहीं

चाहता था, वही यहाँ आचार का विरोध करने लगा। उसने इनके पुरोहितों को भी मना लिया लेकिन समाज के लोगों को किसी तरह राज़ी न कर सका- बल्कि वे गोरा पर बिगड़ उठे। उन्होंने कहा, "ठीक है, जब-ब्राह्मण विधवा-विवाह करने लगेंगे तब हम भी मान लेंगे।"

उनके नाराज होने का मुख्य कारण यही था कि वे समझते थे गोरा उन्हें निम्न-जात का समझकर उनकी अवज्ञा कर रहा है, और यही प्रचार करने आया है कि उन जैसे नीच लोगों के लिए हीन आचार ही उपयुक्त है।

गोरा ने देहातों में घूमते हुए यह भी देखा कि मुसलमानो में ऐसी चीज़ थी जिसके कारण वे एक हो सकते थे। गोरा ने लक्ष्य किया था कि गाँव पर कोई विपत्ति आने पर मुसलमान लोग जिस तरह कंधे-से-कंधा मिलाकर खड़े होते थे, हिंदू नहीं हो पाते थे। बार-बार गोरा सोचता था, इन दोनों निकटतम पड़ोसी समाजों के बीच इतना बड़ा अंतर क्यों मौजूद है? इस प्रश्न का जो उत्तर उसके मन में पैदा होता उसे वह किसी तरह मानना नहीं चाहता था। यह मानने में उस बड़ा कष्ट हो रहा था कि मुसलमान केवल आचार से नहीं धर्म से एक हैं। एक तरफ जहाँ आचार के बंधनों ने उनके सारे कर्म को व्यर्थ बाँधकर नहीं रखा था वहाँ दूसरी तरफ धर्म का बंधन उनमें घनिष्ठ एकता बनाए रखता था। उन सबने मिलकर एक ऐसी रीति को अपनाया था जो केवल 'ना' नहीं थी, 'हाँ' भी थी, जो ऋणात्मक नहीं थी, धानात्मक थी, जिसके लिए मनुष्य एक ही पुकार पर पल-भर में एक पंक्ति में खड़े होकर अनायास प्राण तक न्यौछावर कर सकते थे।

गोरा जब भद्र समाज में लेख लिखता था, व्याख्यान देता था, दलील देता था, तब वह दूसरों को समझाने के लिए अपने पथ पर लाने के लिए स्वाभावत: अपनी बातों को कल्पना के मनोहर रंगों से रंग देता था। जो स्थूल था उसे वह सूक्ष्म व्याख्याओं से ढँक देता था, जो निरा अनावश्यक भग्नावशेष-मात्र था उसे भी वह चमक से मढ़कर आकर्षक बनाकर दिखाता था। देश के लोगों का एक गुट देश से विमुख था- देश की हर बात उसे घटिया दीखती थी इसीलिए गोरा देश के प्रति प्रबल अनुराग से भरकर स्वदेश को इस ममत्वहीन दृष्टि से बचाने के लिए, देश की हर बात उज्ज्वल आवरण से ढँक देने की चेष्टा करता रहा था। वह इसी का अभ्यस्त हो गया था। यह बात नहीं थी कि गोरा केवल वकील की भाँति यह सिध्द करना चाहता था कि उसके पक्ष का सभी कुछ अच्छा है, या कि जो दोष दीखता है वह भी एक प्रकार के गुण ही है। इस पर गोरा सच्चे मन से विश्वास करता था। बिल्कुल असंभव मुद्दों पर भी वह

अपने इस विश्वास को हेकड़ी के साथ झंडे की तरह विरोधियों के सामने फहराता हुआ खड़ा हो जाता था। उसकी केवल एक रट थी कि पहले स्वदेश के प्रति स्वदेशवासियों की श्रध्दा लौटा लानी होगी, और सब बातें पीछे होंगी।

किंतु वह जब देहातों में आता तब उसके सामने कोई श्रोता नहीं होता था, न सिध्द करने को कुछ होता था, न विरोध पक्ष की अवज्ञा को नीचा दिखाने के लिए शक्ति जुटाने का कोई प्रयोजन होता था। इसलिए सत्य को वहाँ किसी तरह के आवरण के भीतर से देखने की आवश्यकता नहीं थी। देश के प्रति उसके प्रेम की प्रबलता ही उसकी सत्य दृष्टि को असाधारण रूप से तीक्ष्ण बना देती थी।

टसर का कोट पहने, कमर में चादर लपेटे, हाथ में कैन्वस का झोला लिए स्वयं कैलाश ने आकर हरिमोहिनी को प्रणाम किया। उम्र कोई पैतीस के लगभग, ठिगना और गठा हुआ शरीर, रूखा और भारी चेहरा, कई दिनों से बढ़ी हुई दाढ़ी घास के अंकुरों-सी झलक रही थी।

ससुराल के आत्मीय को बहुत दिन के बाद देखकर हरिमोहिनी प्रसन्न हो उठीं। "अरे देवर आए हैं! बैठो, बैठो!" कहते-कहते जल्दी से उन्होंने चटाई बिछा ही दी। फिर पूछा, "हाथ-पाँव धोओगे?"

कैलाश ने कहा, "नहीं, कोई ज़रूरत नहीं है। अच्छा, तुम्हारा स्वास्थ्य तो अच्छा ही दीख पड़ता है।"

मानो स्वास्थ्य अच्छा होने का अपमान की बात मानकर हरिमोहिनी बोलीं, 'कहां अच्छा है!" और बीमारियों की सूची गिनाती हुई बोलीं, "थ्कसी तरह पिंड छूटे तो चैन मिले-मौत भी तो नहीं आती।"

जीवन के प्रति ऐसी उपेक्षा पर कैलाश ने अपनी आपत्ति प्रकट की। बड़े भाई नहीं रहे फिर भी उन सबको हरिमोहिनी के रहने से कितना बड़ा सहारा है, इसके प्रमाण स्वरूप उसने कहा, "यह क्यों नहीं देखतीं कि तुम हो तभी तो कलकत्ता आना हो सका; कहीं खड़े होने की जगह तो मिली।"

घर के सब लोगों और गाँव-बिरादरी के सामचार पूरे ब्यौरों के साथ सुनाकर सहसा कैलाश ने चारों ओर नज़र डालकर पूछा, "तो यह घर उसी का है?"

हरिमोहिनी ने कहा, "हाँ।"

कैलाश बोला, "घर तो पक्का है!"

उसका उत्साह बढ़ाने के लिए हरिमोहिनी ने कहा, "पक्का तो है ही। सब पक्का है।"

कैलाश ने निरीक्षण करके यह देख लिया कि सब शहतीर मज़बूत साल की लकड़ी के हैं और खिड़कियाँ-दरवाजे भी आम की लकड़ी के नहीं हैं। दीवारें डेढ़ ईंट की हैं या दो ईंट की यह भी उसकी नज़र से नहीं छुपा। ऊपर-नीचे कुल मिलाकर कितने कमरे हैं, यह भी उसने पूछकर जान लिया। कुल मिलाकर यही जान पड़ा कि सारी बात से वह काफी संतुष्ट हुआ है। मकान बनाने में कितना खर्च आया होगा, इसका अनुमान करना उसके लिए कठिन था, क्योंकि इस तरह के सामान और मसाले की कीमत उसकी जानी हुई नहीं थी। बहुत सोचकर पैर-पर-पैर हिलाते-हिलाते आखिर में उसने मन-ही-मन कहा-अधिक नहीं तो दस-पंद्रह हज़ार तो लगा ही होगा। लेकिन प्रकटत: कुछ कम करके बोला, "क्या राय है भाभी, सात-आठ हज़ार रुपया तो लगा होगा....?"

कैलाश के गँवारपन पर हरिमोहिनी ने अचरज प्रकट करते हुए कहा, "क्या कहते हो देवर, सात-आठ हज़ार क्या होता है! बीस हज़ार से एक पैसा कम नहीं लगा होगा।"

कैलास बड़े मनोयोग से चुपचाप चारों ओर की चीज़ो का निरीक्षण करने लगा। यह सोचकर उसे अपने पर बड़ा संतोष हुआ कि अभी ज़रा-सा सम्मतिसूचक सिर हिला देने से ही साल की लकड़ी के शहतीरों और सागौन के खिड़की-दरवाज़ों समेत इस पक्की इमारत का एकमात्र स्वामी बना जा सकता है। उसने पूछा, "और सब तो हुआ, लेकिन लड़की?"

जल्दी से हरिमोहिनी ने कहा, "उसकी बूआ के घर से अचानक उसका बुलावा आया था, वहीं गई है- दो-चार दिन की देर हो सकती है।"

कैलाश बोला, "तब फिर देखने का कैसे होगा? मेरा तो एक मुकदमा भी है, कल ही जाना होगा।"

हरिमोहिनी बोलीं, "अभी मुकदमा रहने दो! यहाँ का काम निबटाए बिना तुम नहीं जा सकते!"

थोड़ी सोच-विचार करके कैलाश ने अंत में निश्चय किया, बहुत होगा तो यही न कि मुकदमें में एकतरफा डिग्री हो जाएगी, मामला फिस्स हो जाएगा? वह होता रहे-

उसकी क्षति-पूर्ति का पूरा प्रबंध यहाँ पर है, यह उसने एक बार फिर चारों ओर नज़र दौड़ाकर निश्चय कर लिया। सहसा उसने देखा, हरिमोहिनी के पूजा-गृह के एक कोने में थोड़ा-सा पानी जमा था; इस कमरे में पानी की निकासी के लिए नाली नहीं थी, फिर भी हरिमोहिनी हमेशा उसे धोती-पोंछती रहती थी, इसलिए कोने में ज़रा-सा पानी अक्सर रह जाता था। व्यस्त भाव से कैलाश ने कहा, "भाभी, यह तो ठीक नहीं है।"

हरिमोहिनी ने पूछा, "क्यों, क्या बात हुई?"

कैलाश बोला, "वह जो वहाँ पर पानी जमा हो रहा है, वह हर्गिज नहीं होना चाहिए।"

हरिमोहिनी ने कहा, "लेकिन क्या करूँ, देवर!"

"न, न, यह नहीं चलेगा। इससे तो फर्श सील जाएगा। इसी से कहे देता हूँ भाभी, इस कमरे में पानी-वानी गिराने से नहीं चलेगा।"

हरिमोहिनी चुप रह गई तब कैलाश ने कन्या के रूप के प्रति जिज्ञासा की।

हरिमोहिनी ने कहा, "वह तो देखकर ही जानोगी। अभी तो केवल इतना ही कह सकती हूँ कि तुम लोगों के घर में ऐसी सुंदर बहू आज तक नहीं आई।"

कैलाश कह उठा, हमारी मँझली भाभी?"

हरिमोहिनी कह उठीं, "कहाँ यह और कहाँ वह! तुम्हारी मँझली भाभी क्या उसके सामने ठहर सकती हैं!"

ससुराल में मँझली भाभी सुंदरता का आदर्श मानी जाएँ, यह हरिमोहिनी को विशेष अच्छा नहीं लगा, इसीलिए उन्होंने यह और जोड़ दिया- "तुम लोग चाहे जो कहो, भैया, मुझे तो मँझली बहू से छोटी बहू कहीं ज्यादा पसंद है।"

कैलाश ने मँझली बहू और छोटी बहू के रूप की तुलना में कोई उत्साह नहीं दिखाया। मन-ही-मन वह किसी एक अदृश्य मूर्ति की फूल की पंखुड़ी-सी आँखों, बाँसुरी-सी नासिका और कमर तक झूलते हुए केशों की कल्पना में अपने को भरमा रहा था।

हरिमोहिनी ने देखा, इस पक्ष की अवस्था तो पूरी तरह आशाजनक है। यहाँ तक कि उन्होंने समझ लिया, जो बड़ा सामाजिक दोष कन्या में है। वह भी शायद कोई ऐसा बड़ा विघ्न न समझा जाएगा।

गोरा - Gora in Hindi

1. गोरा अध्याय
2. गोरा अध्याय
3. गोरा अध्याय
4. गोरा अध्याय
5. गोरा अध्याय
6. गोरा अध्याय
7. गोरा अध्याय
8. गोरा अध्याय
9. गोरा अध्याय
10. गोरा अध्याय
11. गोरा अध्याय
12. गोरा अध्याय
13. गोरा अध्याय
14. गोरा अध्याय
15. गोरा अध्याय
16. गोरा अध्याय
17. गोरा अध्याय
18. गोरा अध्याय
19. गोरा अध्याय
20. गोरा अध्याय